सामाजिक ग्रन्थमाला संख्या—१

स्त्री के पत्र

लेखक

चन्द्रशेखर

प्रकाशक

ओझाबन्धु-आश्रम, प्रयाग

मूल्य १)

(१)

आपका पत्र ठीक समय पर मिला था। उसी दिन
। उत्तर देने के लिए बैठी, पर फूआजी की तबीय
खराब होगयी। उनकी साँस की बीमारी तो पुरा
बीच बीच में वे कुपथ्य भी बहुत कर लेती हैं। प
न्होंने गङ्गास्नान कर लिया। कहने लगीं कि इ
गङ्गा नहाने जा रहे हैं। मैं ही इतनी अभागिन हूँ कि

गङ्गा भी न नहाऊँ। अतएव भाग्यवती बनने के लिए वे गङ्गा नहाने के लिए चली गयीं। मुहल्ले की दो तीन और स्त्रियाँ थीं, पुरोहितानीजी इनकी अगुआ थीं। गङ्गास्नान करके जब फूआजी आयीं तब उनका दम फूल रहा था, पर उन्होंने छिपाया। आते ही पूछने लगीं कि क्या अँचार का मसाला तैयार है। जो चीज़ें भूनी जानेवाली थीं, वे तो भून ली गयी थीं, पर पीसी नहीं थीं। वे उन सब चीज़ों को लाकर पीसने लगीं। समय भोजन का होगया था। हमने भोजन के लिए कहलवाया। बोलीं—दिन तो अब ख़तम हो रहा है, आज अगर अँचार न पड़ा तो नीबुए ख़राब हो जाँयगे। अभी तक कोई तैयारी हुई नहीं, ठहरो, यह सब करके खाऊँगी। मैं भी चुप हो गयी। उनके पास जाकर मैंने कहा, दीजिए, मसाला कूट दूँ। बोलीं निबुआ तरासो। मैंने देखा—उनका दम फूल रहा है, फिर भी वे कूटती जा रही हैं। मैंने सोचा कि थोड़ी देर में इनको खाँसी आने लगेगी और वैद्य बुलाने की ज़रूरत पड़ेगी, फिर अँचार आज कैसे पड़ सकेगा। अतएव मैंने निबुए नहीं तरासे। मैंने सोचा कि पहले ही से वैद्यजी भी बुला लिए जाते, तो अच्छा होता; क्योंकि उनके आने में कुछ देर तो लगेहीगी। मैं यही सब सोच रही थी, फूआजी की दशा देख रही थी, दया आती थी, दुःख होता था, पर साहस नहीं होता था कि उन्हें रोक दूँ। उन्हें काम न

करने दूँ । इसी पशोपेश में मैं थी । उसी समय फूआजी ने कहा, बहू निबुए तरास डाले ? मैं जवाब क्या देती, मै तो दूसरी आशा लगाये बैठी थी, मैं तो वैद्य को बुलवा रही थी । अपनी आशा के विपरीत काम होते देख मैं अकचका गयी । कुछ उत्तर न दे सकी, निबुए तरासने लगी । उन्होंने कहा—रहने दे, तेरे हाथ कट जायँगे । यह मेरी दूसरी हार थी, मैं न मानी और तेज़ी से निबुए तरासने लगी । फूआजी भी वहीं बैठ गयीं । थोड़ी देर में दोसौ निबुए तरास डाले । फूआ जी बतलाती गयीं, मैंने और दसिया ने अँचार डाल दिया ।

निबुए धूप में रख कर फूआजी ने भोजन माँगा । मिसिरानीजी भोजन दे गयीं । वे भोजन करने लगीं । उन्हे याद आया कि आज मट्ठा महा गया है कि नहीं । उन्होंने मिसिरानी से पूछा । मिसिरानी को आप जानते ही हैं । उन्होंने कहा, बहू ने आज बड़ा अच्छा मट्ठा बनाया है । फूआ जीने कहा, बहू का बनाया मट्ठा ले तो आओ, देखें कैसा है । मिसिरानी ने मट्ठा लाकर दे दिया और आप पी गयीं । मैं उस समय वहाँ नहीं थी । जब फूआजी मट्ठा पी रही थीं तब मैं वहां गयी । मुझे मिसिरानी पर बड़ा क्रोध आया । मैंने मिसिरानीजी से कहा—आप कुछ सोचती समझती नहीं । फूआजी ने कहा—बहू, तू डरती काहे को है । इस बूढ़ी को रखकर अब क्या करेगी ।

मैंने कहा—काम ही नहीं है, अभी तो एक निबुआ का ही अँचार पड़ा है।

फूआजी हँसने लगीं।

उस दिन फूआजी की हालत देख कर मुझे अचम्भा हुआ। मैं मनही मन सोचने लगी कि इस पुराने सूखे शरीर में कितना बल है, कितना धैर्य है, सहने की कितनी बड़ी शक्ति है। फूआजी का दम फूल रहा है, पर ये उधर ध्यान नहीं देतीं। मालूम होता है किसी दूसरे का दम फूल रहा हो, शरीर से इनका मानो कोई सम्बन्ध ही नहीं। बहुत सोचने विचारने पर भी मैं फूआजी के सम्बन्ध की कोई बात निश्चित न कर सकी। सन्ध्या हो गई।

रात के भोजन के समय तक फूआजी अच्छी रहीं। पर उन्होंने भोजन नहीं किया। सब लोग खा पी चुके, मैं अपने कमरे में आयी। आप वाले टेबुल के दराज़ से आपका पत्र निकाला, जो आज ही दिन में आया था। उसे पढ़ गई। पर मुझे आनन्द न आया। सुनती हूँ कि दूसरी स्त्रियों को पति के पत्र पढ़ने में बड़ा आनन्द आता है। आता होगा, पर मुझे तो आनन्द न आया। सच्ची बात छिपाऊँ कैसे। आपके पत्र पढ़ने से मुझे मालूम हुआ कि आप बाहर गये हुए हैं, मेरे पास नहीं हैं, उस घर में भय मालूम होने लगा। जिस घर में मैं सदा सोती थी, जो घर मुझे सदा भरा पूरा

मालूम होता था, वही घर आपका पत्र पढ़ते ही मुझे सूना मालूम होने लगा।

कारण क्या बतलाऊँ। पर मैं सदा आपको अपने पास देखती हूँ। प्रातःकाल से लेकर सन्ध्या तक और सन्ध्या से लेकर प्रातःकाल तक ऐसा मनहूस अवसर बहुत कम ही होता है, जब मैं आपका दर्शन न करती होऊँ, जब मैं आपके साथ बातें न करती होऊँ, आपके साथ खेलती न होऊँ। पर आप के पत्र ने मेरा ध्यान भङ्ग कर दिया। मुझे मालूम हुआ कि आप रेलगाड़ी पर बैठकर चले गये हैं, बड़ी दूर चले गये हैं, मैं यहाँ अकेली हूँ, आप मेरे पास नहीं हैं। इसीसे आपने पत्र लिखा है, उसमें अपने समाचार लिखे हैं, मुझे उदास न होने की आज्ञा दी है और बतलाया है कि आपके विदेश रहने पर मुझे कैसे रहना चाहिए।

आपका पत्र पढ़ते ही मेरा मन न मालूम कैसा हो गया। श्यामा कहती है कि मैं उस समय चुपचाप आँखें मूँद कर बैठी थी, किसी की बात नहीं सुनती थी। श्यामा ही मुझे उस समय बुलाने आयी थी, फूआजी की तबीयत बहुत ख़राब हो गयी थी, खांसते खांसते वे बेहोश हो गयी थीं, वैद्यजी आये थे। पर मुझे इन बातों की ख़बर तक नहीं। मैं जब फूआजी के पास पहुँची, तब उनकी साँस ज़ोरों से चल रही थी, आँखें चढ़ गयी थीं, वैद्यजी ने जैसा

बतलाया था, वैसा किया जा रहा था। मैं वहाँ गयी। फूआ-जी का माथा सुहलाने लगी। उस समय फूआजी किसीको पहचानती न थीं। बाबूजी, मैयाजी सभी घबरा गये थे। मैयाजी तो चिल्ला कर रोने लगी थीं। रुलाई तो मुझे भी आती थी, पर मैं रोती न थी। फूआजी सामने पड़ी थीं। मैं सोचने लगी, फूआजी अपनी ऐसी सांस की कठोर बीमारी रोक सकती हैं, तो क्या मैं आँसू नहीं रोक सकती। मैं आँसू रोकने का अभ्यास करने लगी, मैंने समझा कि मैंने आँसू रोक लिया। इसी समय फूआजी आँखें खोल कर बोलीं कौन है, बहू, रोती क्यों है बेटी।

उस समय मुझे मालूम हुआ कि मैं आँसू नहीं रोक सकी थी। मेरे आँसू के बूंद फूआजी के मुँह पर पड़े होंगे, जिससे उनको मेरा रोना मालूम हुआ होगा। मैंने पूछा—आप की तबीयत कैसी है?

उन्होंने हँसना चाहा, पर हँस न सकीं, बोलीं—अच्छी है। बेटी तू उधर बैठ जा, भैया को बुलाने के लिए किसीको भेज दे।

बाबूजी तो फूआजी के कमरे के बाहर बैठे ही थे। फूआजी की बात सुन कर उन्होंने कहा—आता हूँ। कैसी तबीयत है, कहते हुए वे चले आये। मैं भी उसी कमरे में थी, पर वहाँ से थोड़ी दूर हट गयी थी। फूआजी ने कहा

भैया, तुम भी जाग रहे हो, जाओ सो जाओ, कोई चिन्ता की बात नहीं है। हिन्दू विधवाओं का तो मरना ही मंगल है। पर तुम्हारी बहू मुझे मरने नहीं देती, बैठी रो रही है, यह देखो—आँसू से इसने मेरा समूचा मुँह भिगो दिया है। इससे कह दो, सोने जाय। यह मेरा और सब कहना तो मानती है, पर जिस दिन मैं बीमार होती हूँ, उस दिन मेरा कहना नहीं मानती, मैं कहती हूँ कि सो जा, तो यह जागती रह जाती है। मैं कहती हूँ कि अपने कमरे में जा, तो यहीं बैठी रहती है।

बाबूजी ने कहा—अच्छा, पर वे बाहर चले गये। मुझसे उन्होंने कुछ नहीं कहा। मैं थोड़ी देर तक वहीं बैठी रही, पुनः वहाँ से उठ कर फूआजी के पास गयी, वे सोती तो क्या होंगी पर उनकी आँखें बन्द थीं, सूखा चेहरा खिला हुआ था। मैं देख कर ख़ुश हुई। भैयाजी भी आयी थीं उन्होंने कहा—सो रही हैं, तुम भी जाकर सो रहो, मैं बैठा हूँ। मैंने कुछ जवाब नहीं दिया। पर जहाँ मैं पहले बैठी थी, वहाँ चली आयी। वहाँ एक दरी बिछी हुई थी और उस पर एक तकिया रखा थी। शायद श्यामा ने रख दिया हो, मैंने पूछा नहीं, किसने रखा है। मैं जाकर उसी दरी पर बैठ गयी। सोने की इच्छा नहीं थी, पर हाथ पैर फैलाने की गरज से मैं लेट गयी, शायद लेटने ही मुझे नींद आगयी। बहुत

रात तो बीत चुकी थी, पर जितनी बाक़ी थी, उतनी देर तक मैं ख़ूब सोयी। प्रातःकाल उठी, सूर्योदय हो चुका था। मुझे किसीने उठाया नहीं। उठ कर मैंने देखा कि फूआजी आंगने में बैठी हैं। वे प्रसन्न मालूम पड़ती हैं। मैयाजी जगन्नाथ को वैद्यजी के यहाँ से दवा लाने के लिए भेज रही हैं। मैं भी वहीं आकर खड़ी होगयी। मैयाजी की बात ख़तम होने पर मैंने कहा—जगन्नाथ बाबू, वैद्यजी से कहना कि फूआजी के लिए मट्ठे के साथ खाने की कोई दवा दें। उसने कहा—अच्छा, फूआजी ने कहा—जगन्नाथ, तू भी अपनी भाभी के ऐसा पागल है, वैद्य से ऐसा कहेगा तो तेरी फूआजी की बेइज़्ज़ती न होगी। अच्छा, जा।

जगन्नाथ चला गया, उन्होंने मुझसे कहा—अच्छा अब से मट्ठा न पीऊँगी, अब तो तू ख़ुश हुई।

चिट्ठी शायद बहुत बड़ी होगयी। फूआजी की बहुत लम्बी चौड़ी बात लिखनी पड़ी है, इसीसे यह चिट्ठी लम्बी होगयी है।

मन में बहुत सी बातें लिखने की हैं, चाहती हूँ लिखूं, पर लिखते नहीं बनता। मन में आता है कि लिखूं कि आप घब-राइयेगा मत, पर ऐसा लिखने को जी नहीं चाहता, भला जो अकेला विदेश में है, वह क्यों न घबराएगा। जो इतने दिनों तक अपने परिवार के साथ रह चुका है, वह बाहर जाकर

घबराएगा नहीं, तो क्या खुश होगा। फिर सोचती हूँ कि लिख दूं कि घबराइएगा, पर कहती हूँ कि इसके लिखने की भी क्या ज़रूरत है। आप घबराते तो ज़रूर होंगे।

एक बार मन में आया कि लिखूं कि मेरी याद कर के मन को उदास न कीजिएगा, पर मेरी समझ से ऐसा लिखना भी उचित नहीं है। मैं जानती हूँ आप विदेश में हैं, वहाँ आपके साथी संगी भी कोई नहीं हैं, पुस्तकें भी बहुत थोड़ी ही आपके पास हैं, इससे आपको सोचने विचारने का काफ़ी समय मिलता होगा। उस समय बहुत सी बातें याद आती होंगी, मैं भी याद आती होऊँगी, इस सिलसिले में और भी बहुत सी बातें याद आती होंगी। फिर विचारों का ताँता टूटने पर अभाव मालूम होता होगा। उस समय होनेवाली उदासी को कौन रोक सकता है।

अच्छा, तो आप कलकत्ते में घबरा रहे हैं, उदास हो रहे हैं, तब तो हम लोगों को अवश्य कहना चाहिए कि आप घबराइए मत, आप उदास मत होइए। एक दिन जगन्नाथ भैयाजी से लड़ पड़ा था, खाता ही न था, हम लोग उससे कहते थे कि खालो। उस दिन नारायणी खूब रोती थी। हमने कहा—चुप रहो। आप जब उदास हो रहे हैं तब हमको तो अवश्य कहना चाहिए—उदास मत होइए।

पर क्या हमको ऐसा कहना चाहिए? क्या मैं आपसे अधिक बुद्धिमती और समझदार हूँ? क्या मेरा यह हक़ है कि आपको समझाऊँ या आज्ञा दूँ। आपभी तो यह जानते हैं कि घबराना नहीं चाहिए, उदास नहीं होना चाहिए। आपही ने तो कहा था कि जीवन का प्रधान चिह्न आनन्द है, वह जीवन ही नहीं, जिसमें आनन्द न हो। "यह मैं कैसे समझूँ कि आप अपनी बात भूल गये होंगे।" क्या लिखूं, किससे पूछूँ कि क्या लिखना चाहिए। इसी पशोपेश में हूँ। क्या लिखूं क्या न लिखूं, शक्ति होती तो अपनी बात भी लिखती, पर क्या करूँ। अच्छा, आज इतना ही।

आपकी

.... भा,
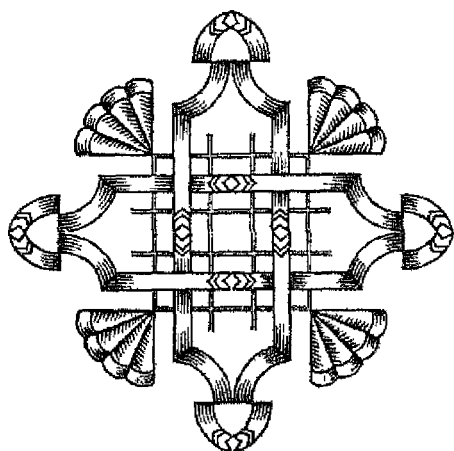
(२)

नाथ,

आपको आश्चर्य हो रहा है कि "जो एक दिन बोलना भी नहीं जानती थी, जिसके मुँह से एक दो शब्द सुनने के लिए हम (आप) ताकते रहते थे, जो सीधे, आँख उठाकर देख भी नहीं सकती थी, वही आज इतना बोलनेवाली कैसे होगयी और अपने मनोभावों को सिलसिलेवार पर अल्हड़पन के साथ लिखने कैसे लगी।" मैं पूछती हूँ कि क्या सचमुच आपको आश्चर्य हो रहा है। मैं तो इस बात को सत्य नहीं समझती, क्योंकि मेरी समझ से इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

यह तो संसार का नियम है जो एक दिन अपने पैरों पर खड़ा भी नहीं हो सकता, जिसे चलने के लिए दूसरों का सहारा लेना पड़ता है, वही दूसरे दिन अपने पैरों खड़ा हो जाता है, दौड़ता है, मंज़िलें तै करता है, अपने कन्धे पर दूसरों का बोझ लेता है और ख़ुशी से वह बोझ ढोता है। हम लोगों

के लिए एक दिन ऐसा था कि स्वयं अपने लिए भोजन भी नहीं जुटा सकते थे, सामने रखा भी भोजन नहीं खा सकते थे अपनी भूख की सूचना भी शब्दों के द्वारा नहीं दे सकते थे। उस समय हम लोग भूख लगने पर भी रो देते थे और तब तक रोते थे जब तक भोजन न मिल जाय। यह दशा हमारी ही आपकी नहीं थी, पर हमारे पिता माताओं की भी थी, पर आज तो ठीक उससे उलटी बात है, हम लोग अपनी सब आवश्यकताओं का प्रबन्ध करते हैं, दूसरों का भी प्रबन्ध करते हैं। ये और इसी तरह की और कितनी ही बातें हम लोग देखते हैं, पर एक क्षण के लिए भी क्या किसीको आश्चर्य हुआ है?

ऊपर के वाक्य लिखकर आपने जिस समय की ओर इशारा किया है वह मुझे भी याद है। पर सोचिए—क्या आपका लिखना ठीक है? सामने देखना, बातचीत करना हेल-मेल होने पर होता है। मैं अपने पिता के घर से उसी दिन आयी थी। आपके परिवारवालों को और आपको जानती भी नहीं थी, देखा भी न था। यद्यपि ब्याह होने के तीन वर्ष के बाद मैं आपके यहाँ आयी थी, पर इन तीन वर्षों में आपने अपना कुछ परिचय दिया। मैं उत्कण्ठित थी आपको देखने के लिए, आपसे बातें करने के लिए। पर उत्कण्ठित होने से तो उत्कण्ठा की शान्ति नहीं होती। नयी ब्याही बहू का अपने

पति या उनके परिवार के सम्बन्ध में कुछ पूछ ताछ करना बुरा समझा जाता है, यह नववधुओं के लिए निन्दा की बात होती है। अतएव हम लोग चुप रहती हैं, किसीसे कुछ पूछती नहीं, यही बात नवविवाहित वर के लिए भी है। अत-एव न तो वर को कुछ मालूम रहती है बहू के बारे में और न बहू को मालूम रहती है वर के विषय की बात । सहसा एक दिन दोनों मिलते हैं और पति महाशय चाहते हैं कि हमारी स्त्री हमसे खुलकर बातें करे। क्या खूब, एक आध व्याख्यान सुना दें तो कैसा! हो सकता है कि किसी पति महाशय की यह आशा पूरी होगयी हो, पर मेरी समझ से ऐसी आशा का पूरा होना मुनासिब नहीं है । आशा उतनी ही रखनी चाहिए जो पूरी हो सके। मुझसे आपसे जान न पहचान, आपको देखते ही मैं हिलमिल कैसे जाऊँ और खुल कर बातें कैसे करूँ । आप तो बहुत लोगों से मिलते-जुलते हैं, बहुतों से आपका परिचय है और सो भी पुराना। तो क्या आप सब से खुलकर बातें करते हैं, सबसे आँख से आँख मिला कर देखते हैं? फिर एक अपरिचित से, सो भी भारतीय स्त्री से आप वैसी आशा कैसे कर सकते हैं? पुरोहितजी के मन्त्रों में यह शक्ति नहीं है जो जातिगत संस्कारों के प्रवाह को पलट दे।

उस समय भी मैं बोलना जानती थी, बोलती भी थी। पर जिसको देखूँ उसीसे बातें करने की आदत मुझमें नहीं

थी, अब भी नहीं है। यह मैं जानती थी कि आप मेरे पति हैं, मैं यह भी जानती थी कि जिस तरह और स्त्री-पुरुष रहते हैं उसी तरह हमलोगों को भी रहना होगा, पर यह तो नहीं जानती थी कि आप किस तरीके पर बातें करते हैं, आपको कैसी बातें पसन्द हैं। सच्ची बात यह है कि मैं उस समय आपसे बातें करना चाहती न थी। मेरे पास बातें बहुत थीं, पर आपका सुन्दर मुँह देखते ही मेरा हृदय प्रकाशित होगया था, उस समय मेरे हृदय में जो भाव आये, वे बिलकुल नये थे। पिता के घर में अपनी सखियों से आपके सम्बन्ध की बातें मैं जब तब कर लिया करती थी। उस समय भी मन में कई तरह के भाव उत्पन्न होते थे। पर उन सब भावों से यह भाव विलक्षण था जो पहले पहल आपके पास बैठकर आपके मुँह देखने से मेरे मन में उत्पन्न हुआ। मुझे उस समय मालूम हुआ कि आज मेरे हृदय-मन्दिर में एक सजीव प्रतिमा की स्थापना हो रही है। मैं अपने सौभाग्य पर मस्त थी और आप व्याख्यान देने को कह रहे थे। यदि आप उस समय मेरा हृदय पहचानने का प्रयत्न करते, यदि आप एक अपरिचित को जानने की कोशिश करते, तो मेरी समझ से ऐसा उलहना देने का अवसर न आता।

उस समय भी मैं बोल सकती थी पर बोलने का अवसर न था। आज अवसर है, बोलती हूँ। इसमें आश्चर्य की बात

क्या है। यह बात आपको भी मालूम है, अतएव मैं कहती हूँ आपका आश्चर्य झूठा है।

फूआजी की तबीयत अच्छी है। आपकी आज्ञा होने पर तथा स्वयं मेरी इच्छा होने पर भी मैं उन्हें अपथ्य करने से रोक नहीं सकती। रोकना चाहती हूँ, पर रोक नहीं सकती। मुझे भी याद है आप को रोक दिया था, सो भी बड़ी निर्लज्जता से। आपके सामने से मैंने थाली खींच ली थी, शायद आपको मालूम न हो, उस थाली के मालपुए मैंने स्वयं खा लिये थे। पर इससे मुझे उस समय भी दुःख न हुआ था और आज भी दुःख नहीं होता। हाँ, हँसी ज़रूर आती है। क्या फूआजी के लिए भी मैं वैसा ही कर सकती हूँ। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं वैसा कर सकती। फूआजी से मुझे भय बना रहता है कि कहीं वे नाराज़ न हो जायँ, आपसे मुझे कोई भय नहीं है, आपके क्रोध या प्रसन्नता का ख़याल ही मेरे मन में नहीं आता। मैं इस बात को भूल गयी हूँ कि आप नाराज़ होना भी जानते हैं। मैं न तो आपको नाराज़ करने का कोई काम करती और न प्रसन्न होने का। आपके लिए मैं जो करना चाहती हूँ, वही करती हूँ। आप की तो मैं दासी हूं, सेविका हूं, सधर्मचारिणी हूँ। मैं आपकी सेवा करती हूँ अपने लिए, अपने आनन्द के लिए। मैं समझती हूं कि वैसा करना मेरा धर्म है, मेरा कर्त्तव्य है। मैं

आपकी अर्धाङ्गिनी हूं, आधा हृदय हूं, एकबाहु हूं, आधा मस्तक हूँ। अतएव आपके लिए, अपने लिए, जो उचित समझती हूँ, वही करती हूँ, जिसके करने में मुझे आनन्द आता है, वही करती हूँ। पर फूआजी के सम्बन्ध में वैसा नहीं सोच सकती, वे तो मेरी बड़ी हैं, मुझे ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिससे उनके मन में कष्ट हो, जिसे वे बुरा समझें।

अपने कष्टों का ज्ञान मनुष्य को जितनी शीघ्रता से और जितने अधिक परिमाण में होता है, वैसा और उतने परिमाण में दूसरे के कष्टों का ज्ञान नहीं हो सकता। यही कारण है उपचार में भेद होने का। मनुष्य का अपना कष्ट, उसका हृदय, उसका मस्तक, उसकी इन्द्रियां, धमनियां यहाँ तक कि उसका प्रत्येक रोम करता है। यही कारण है वह अपना कष्ट दूर करने के लिए अपने सर्वाङ्ग से पूरे बल के साथ उद्योग करने लगता है। ऐसा करने में उसकी कमज़ोरी भले ही प्रकट हो जाय, भले ही कष्ट दूर होने पर वह स्वयं उस समय की अपनी हालत याद करके हँसे। पर कष्ट के समय उसका ध्यान इन बातों की ओर नहीं रहता। आपके दुःखों का अनुभव मुझे सर्वात्मना होता है, आपके दुःखों की लघुता और गुरुता का मुझे ज्ञान रहता है। मैं उसे अपनी निजी बात समझती हूँ, मुझे ख़ुद वेदना होने लगती

है, अतएव मैं अपना अधिकार समझती हूँ कि जिस तरह हो उसे दूर करूं। जिस उपाय से हो अपने व्याकुल मन को शान्त करूं। उस समय दुनियां मेरी आँखों से ओझल हो जाती है, लोग क्या कहेंगे इसका ध्यान जाता रहता है, हो सकता है कि उस समय मैं कोई ऐसा काम कर बैठती होऊँ, जिसका करना उचित न समझा जाता हो। पर वैसा क्या मैं जानबूझ कर करती हूं। मुझसे आपही आप हो जाता है। जब काँटे गड़ते हैं, तब मनुष्य चिल्ला ही उठता है, पैर खींच ही लेता है, उसे तात्कालिक कर्तव्यों पर विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता। रामचन्द्र के समान धीर प्रकृति का पुरुष भी सीता-हरण होने पर रोने लगा था। मेरा विश्वास है कि सीता हरण होने के बाद दस पन्द्रह मिनटों के लिए भी, यदि रामचन्द्र का हृदय स्वस्थ रहता, उसमें वेदना न होती, तो अवश्य ही वे अपना कर्तव्य विचार लेते, और कम से कम रोते धोते नहीं। पेड़ों से, पत्तियों से और नदियों से सीता का पता न पूछते फिरते। पर वैसा वे करते कैसे, समय कहाँ था, सोचने समझने का मौक़ा भी तो मिले। मन्दिर की प्रतिमा जिस समय हटायी जाती है, इसकी खबर सबसे पहले मन्दिर को लगती है या दूसरों को? सीता, रामचन्द्र के हृदय की प्रतिमा थीं। जब वे हरी गयीं, उनका हृदय मन्दिर सूना हो गया, वह श्रीहीन हो गया, लोगों को

राम की दशा मालूम हो गयी। क्या रामचन्द्र अपनी दशा छिपा सकते थे, क्या ऐसा करने का उन्हें अवसर था? पर दशरथ के समय तो रामचन्द्र ने अपने आपको छिपाया और खूब छिपाया। उस समय उनके पास काफी अवसर था, खूब सोच विचार कर अपना कर्तव्य उन्होंने निश्चित कर लिया।

मैं भी फूआजी के संबन्ध में आपकी आज्ञाओं के पालन करने का प्रयत्न करूंगी, पर निश्चित समझिए, वैसा हो न सकेगा, जैसा आप चाहते हैं या मैं चाहती हूं। क्योंकि उनके कष्टों का अनुभव मुझे देर से होता है, सोचने विचारने का अवसर मिलता है, कर्तव्य निश्चित करने का अवसर मिलता है। इतना विलम्ब होने पर काम बिगड़ जाने की सम्भावना नहीं, किन्तु निश्चय रहता है। फिर भी मैं प्रयत्न करूँगी। हाँ वहाँ से आप चिन्ता करके उनका कुछ विशेष उपकार नहीं कर सकते, मैं ऐसा ही समझती हूं अतएव उनका भार मुझ पर ही छोड़ दीजिए—"यहाँ के सब समाचार अच्छे हैं, हम सब लोग अच्छे हैं, आपकी चर्चा अक्सर होती है" इन बातों को ही लिखकर मैं अपना कर्तव्य पालन कर सकती थी। पर जब आपने यहाँ का समाचार पूछा है, तो मुझे सब बातें साफ़ साफ़ लिखनी चाहिए, जिससे आप यहाँ की सब बातें समझ जांय। अच्छा सुनिए,

एक दिन बिल्ली दूध पी गयी। कब पी गयी, इसका किसी को पता नहीं, बिल्ली को दूध पीते किसीने देखा भी न था। दूध नहीं था, इसलिए समझा जाता है कि हो न हो, बिल्ली ही दूध पी गयी होगी। मैं समझती हूँ कि यह अनुमान की बात होने पर भी यही बात सच्ची है। कहा नहीं जा सकता कि इसमें किसकी असावधानी है, श्यामा की या मिसिरानीजी की। ख़ैर, उस दिन किसीको दूध नहीं मिला। किसी ने दूध मांगा भी नहीं। केवल बाबूजी से बिल्ली के दूध पीने की बात कह दी गयी थी। हम लोग तो जानती ही थीं। पर जगन्नाथ बाबू को उस दिन दूध का न मिलना अच्छा न लगा, उन्होंने कहा—मिसिरानी जी आज ज़रा अधिक दूध दो, मिसिरानी ने कहा—बाबू, आज तो दूध ही नहीं है। अब तो आप मचल गये, कहने लगे अब मैं खाऊँगा ही नहीं, मिसिरानीजी ने बड़ी आरज़ू मिन्नत की, समझाया बुझाया, मैयाजी ने कहा, पर आप न खाये, फूआजी ने कहा—जाओ समझा दो, तुम्हारा कहना मान लेगा, मैं भी गयी, मुझे देखते ही उन्होंने कहा—दूध क्यों नहीं है? मैंने कहा—दूध क्या हर समय रहता है और क्या वह सब को मिलता है?

उन्होंने कहा—कल तक तो मिला है।

मैंने कहा—कल से फिर मिलेगा।

उन्होंने कहा—ऐसा नहीं हो सकता, आज दूध मैं अवश्य पीऊंगा, तुम जहां से चाहो ले आओ।

मुझे हँसी आगयी, मैंने कहा—मैं तो दूध देने से रही, और मेरा दूध तुम पी भी नहीं सकते। कहो, मैयाजी को भेज दूँ। इस पर वे बहुत बिगड़े, उन्होंने भोजन छोड़ दिया। वे रोने लगे पर कुछ कह नहीं सके। शायद मैंने भी बहुत कठोर बात कह दी थी। की थी तो दिल्लगी, पर मुझे ऐसी दिल्लगी नहीं करनी चाहिए थी। हाँ, कोई गड़बड़ी नहीं हुई। किसीने शायद इधर ध्यान नहीं दिया।

एक दिन दसिया ने दही की हंडिया फोड़ दी। फूआजी उस पर बहुत बिगड़ी थी, उन्होंने कहा—कि आज दसिया को बिना मारे न छोड़ूँगी। दसिया डरी नहीं, क्योंकि वह फूआजी को जानती है। वे मारने को कहती हैं, पर उनको किसीने मारते न देखा। वे बकती झकती बहुत है, पर मारती पीटती नहीं। फूआजी का यह स्वभाव सभी को मालूम है, दसिया को भी मालूम है। वह भी तो आपके घर में बहुत दिनों से रहती है।

श्यामा की ससुराल से एक आदमी आया था, वह थोड़ी मिठाई और कपड़े ले आया था। हम लोगों के पहनने के लिए बाबूजी जैसे कपड़े देते हैं, वैसे वे न थे, साधारण थे। मैयाजी इस पर श्यामा की ससुरालवालों को बुरा भला

कहती थीं। फूआजी के रोकने पर भी न रुकीं। उनको बड़ा क्रोध आया था। उन्होंने मुझसे कहा—जो मैं कहती हूँ वह लिख दो, मैं चिट्ठी भेजदूँ। मैं लिखने लगी। उनका पहला वाक्य, था—"मैंने पन्द्रह सौ रुपये गिने हैं ऐसी ही रद्दी धोती बेटी को पहनाने के लिए"। मैं इस वाक्य को सुन—कर घबरा गयी। मैंने मनमें सोचा कि ऐसा लिखने से तो कोई लाभ नहीं है, यह तो बहुत ही छोटी बात है, फिर भी यह धोती किसने भेजी है, क्यों भेजी है, इसका भी तो हम लोगों को कुछ पता नहीं है। ऐसी दशा में ललकार के तौर पर उन लोगों को उलहना देना क्या अच्छा होगा। मैंने निश्चय कर लिया कि ये बातें न लिखूंगी। पर कुछ तो लिखना ही पड़ेगा, बिना लिखे काम नहीं चलने का। यदि मैंने लिखने से इन्कार किया, तो मैयाजी उनको छोड़ कर मुझ पर ही बरस पड़ेंगी। आप जानते हैं इस समय मैंने क्या किया। सुनिए, कैसा छल मैंने किया। मैयाजी की बातें सुनती गयी और अपने मनकी बातें लिखती गयी। चिट्ठी खतम हुई। मैयाजी ने कहा—सब बातें लिख दी हैं न, मैंने कहा—हाँ, कहिये सुना दूं? यह कहने को तो मैंने कह दिया, पर पीछे पछताने लगी। यदि मैयाजी कह देतीं कि सुनाओ, तो मैं क्या सुनाती। पर भगवान् ने कृपा की, उन्होंने कहा—नहीं, सब ठीक ठीक लिख दिया है न? मैंने कहा

हाँ, उन्होंने कहा—बन्द कर दो। वह चिट्ठी उन्होंने स्वयं उस आदमी के पास भेज दी।

भैयाजी ने अपनी चिट्ठी लिखवाने की बात बाबूजी से भी कही थी और उस चिट्ठी की इबारत भी सुनायी थी। उन्होंने सब बातें सुन ली थीं, पर कुछ कहा नहीं। शायद बाबूजी भी नहीं चाहते थे कि ये बातें लिखी जाँय। अत-एव चिट्ठी ले जानेवाले के हाथ से उन्होंने चिट्ठी ले ली और पढ़कर वह चिट्ठी दे दी। उस आदमी के चले जाने पर बाबू जी मुझपर बड़े प्रसन्न हुए। सन्ध्या को आये और कहने लगे कि मेरी बहू बड़े घर की बेटी है। फूआजी ने कहा—आयी भी तो है बड़े घर में। इसका उत्तर उन्होंने कुछ भी नहीं दिया। पर ये बातें भैयाजी को अच्छी नहीं लगीं। उनके मन में कुछ सन्देह हो गया, वे बार बार मुझसे कहने लगीं कि तुमने मेरी सब बातें लिख दी हैं न? अब झूठ बोलना मैंने उचित नहीं समझा। मैंने कहा—क्या श्यामा की मैं दुश्मन थी, जो वैसी बातें लिखती। हम लोग तो कड़ी से कड़ी बातें सुना सकती हैं और वे हम लोगों का कुछ बिगाड़ भी नहीं सकते। पर इन सब का फल तो श्यामा को भोगना पड़ेगा। श्यामा सतायी जायगी, वह झिड़की जायगी, भला मैं ऐसा क्यों करने लगी?

मैयाजी चुप रहीं, शायद क्रोध के मारे वे बोल न सकती हों। थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा—तो तुमने मेरी बात न मानी। जब तुम्हारे ससुर तुम्हें शाबासी देने लगे, उसी वक़ मेरे मन में सन्देह हुआ। आख़िर बात ठीक ही निकली। मैंने कुछ भी नहीं कहा। वे शायद मुझ पर नाराज़ हो गयीं।

पर दूसरे दिन दोपहर के बाद वे मेरे कमरे में आयीं, उस समय मैं श्यामा के साथ बैठी थी, वे भी आकर बैठ गयीं। मेरी बड़ी तारीफ़ की। श्यामा से उन्होंने कहा—बेटी तू अपनी भाभी के गुन सीख ले। यह बड़े बाप की बेटी है, तू भी बड़े बाप की बेटी बन।

हमने या श्यामा ने कुछ उत्तर न दिया। थोड़ी देर बैठने के बाद वे वहाँ से चली गयीं।

इस समय तक और कुछ विशेष समाचार नहीं है।

आपकी

.........भा

(३)

नाथ,

३, ४ दिन पहले एक पत्र भेज चुकी हूँ। आज यह पत्र एक विशेष कारण से लिख रही हूँ। आज दोपहर को मदारी की दुलहिन आयी थी, यों तो प्रति दिन कई स्त्रियाँ आती जाती रहती हैं, मुझे मालूम थोड़े ही होता है कि कौन आयी कौन गयी। मैं किसी को पहचानती भी नहीं। मदारी की दुलहिन को भी नहीं पहचानती थी, पर कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मेरा इससे परिचय हो गया। बड़ी ही ग़रीबिन और बड़ी ही सीधी है। इस वक़्त वह बड़ी विपत्ति में फँसी है। मदारी कलकत्ते से बीमार होकर आया है, वहाँ एक महीने से बीमार था, बिचारे का जो कुछ था, वह वहीं ख़तम हो गया, किसी तरह तो वह घर आया है। अब उसे पथ्य चाहिए, दवा चाहिए। जाड़े के दिन हैं, उसने कहा तो कुछ भी नहीं, पर मैं समझती हूँ कि उसके पास कपड़े भी न होंगे। वही मैयाजी से कुछ अन्न माँगने आयी

थी, पर मिला नहीं; क्योंकि एक बार वह काम करने के लिए बुलायी गयी थी और आयी नहीं। वह बिचारी रो पड़ी, शायद यहाँ से सहारा मिलने का उसे पूरा भरोसा रहा होगा।

सहारे ही पर तो दुनिया ठहरी हुई है, जिसका सहारा टूट गया, मानो दुनिया से ही उसकी विदाई हो गई। वैद्य डाक्टर क्या किसी को जिला देते हैं, दवा क्या अमृत है जिसके पीने से मनुष्य अमर हो जाता है। नहीं, ये सब सहारे हैं। मैंने ऐसे कई आदमी देखे हैं, जिनके लिए दवा का प्रबन्ध नहीं था, सेवा शुश्रूषा की बात कौन कहे, पानी देनेवाले का नाम कौन ले, पास पानी भी न था जो खुद वह पीले, पर वह भला चंगा हो गया। हकीम अजमलखां और त्र्यम्बक शास्त्री की दवा करनेवाले मरे हैं और बुरी तरह मरे हैं।

उस समय मैं अपने घर में थी, मेरे पास यशोदा बैठी थी, मैंने रोना सुनते ही यशोदा से कहा—देखो कौन रोती है, उसे मेरे पास बुलाओ। बाहर की किसी स्त्री के सामने आज तक मैं न हुई, सामने होने की ज़रूरत भी नहीं और इच्छा भी नहीं। मेरे यहाँ सिवा नाइन के और कोई बाहरी स्त्री नहीं आती, और न आज तक किसीको अपने पास मैंने बुलाया ही है। आज बाहर रोनेवाली को मैंने बुलाया। उस

समय तो बिना समझे बूझे ही बुलाया था, पर अभी भी मैं यह नहीं समझ सकी हूँ कि मैंने क्यों बुलाया। मनोविज्ञान से मेरा परिचय नहीं है, इसलिए मैं इस बात का निर्णय नहीं कर सकती कि किस भाव से प्रेरित होकर मैंने उसे बुलाया, हां इतना कह सकती हूँ कि उसे बुलाया।

वह मेरे कमरे के द्वार पर आयी और बाहर ही से बोली, "का हुक्म बा" उस वक्त भी वह रोरही थी। गला भरा हुआ था। मैंने इशारे से उसे भीतर बुलाया, पर उसे भीतर आने का साहस नहीं हुआ। मैं भी कुछ घबरा गयी, उस समय मैं निश्चय नहीं कर सकी कि इससे क्या कहूँ। थोड़ी देर वहीं खड़ी रहकर "जात बानी" कह कर चली गयी। मेरा मन घबराया था ही, मैंने यशोदा से कहा—तुम मदारी की दुलहिन के यहाँ जाओ और उससे पूछो कि वह क्यों यहाँ आयी थी और क्यों रोयी थी। थोड़ी देर बाद लौट कर यशोदा ने जो कहा, उससे मुझे बड़ा ही दुःख हुआ। "मदारी की दुलहिन दो सेर चावल माँगने आयी थी, पर मिला नहीं, और कहीं से मिलनेवाला भी नहीं, उसका दुलहा बीमार है, वह उसे क्या खाने को देगी, यही सोच कर रो रही थी" यही यशोदा ने आकर मुझसे कहा। इस बात को यशोदा से सुनकर मैं पागल सी हो गयी, अपना बॉक्स खोला, उसमें बहुत से रुपये रखे हुए थे, ये वे ही रुपये हैं

जो मेरे पिताजी से २५) माहवार के हिसाब से तथा श्वसुर जी से २०) माहवार के हिसाब से मिलते हैं। इन रुपयों को मैं रख दिया करती हूँ। खर्च नहीं करती। मैं समझती हूँ कि यद्यपि ये रुपये मुझे मिलते हैं, पर मेरे नहीं हैं। आप जानते हैं कि देवी का चढ़ावा देवी का नहीं होता, वह होता है उसका, जो देवी का पुजारी होता है, आराधक होता है। पर आज मेरा मन विचलित हो गया है। मेरे पास निजके इतने रुपये व्यर्थ पड़े रहें और एक स्त्री का पति भूखा मरे, बीमारी में उसे पथ्य भी न मिले। वह मेरी ही समान स्त्री है, उसके भी मन है, उसके मन में भी लालसाएं उठती हैं, वह भी मेरे ही समान अपने पति की सेवा करना चाहती है। पर विवश है, कर नहीं सकती, उसके पास साधन नहीं। पर मेरे पास ये साधन पड़े सड़ रहे हैं। मैंने बक्स बन्द किया, फूआजी के पास गयी। मैंने कहा—मदारी की दुलहिन आपके यहाँ आयी थी तो रोने क्यों लगी? उन्होंने कुछ रूखे ढङ्ग से कहा—तुम्हारे पास जाकर शिकायत की है क्या और तुम हमसे जवाब तलब करने आयी हो? फूआजी का यह कहना मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने जवाब दिया—बुलाया तो था पूछने ही के लिए पर वह बाहर ही से लौट गयी। उसे कोई शिकायत करनी होगी, आप लोगों से करेगी, मुझसे

मतलब ? मेरी नरम आवाज़ सुनकर फुआजी भी नरम हुईं। उन्होंने कहा—वह ये छोटी जाति के लोग बड़े बदमाश होते हैं, दूसरे की ज़रूरत तो समझते ही नहीं। हां, अपनी ज़रूरत के लिए दौड़े आते हैं। दो सेर चावल मांगने आयी थी, मैंने नहीं दिया। वह रोने लगी, और मिलेगा कहां? मैंने कहा,—तो दे न दीजिए, बिचारी बड़ी रोती थी, फिर काम करा लीजिएगा, काम न भी करेगी तो दो सेर चावलों से आपका बिगड़ता क्या है, गरीब है बिचारी, आशीर्वाद देगी। फुआजी ने कुछ जवाब नहीं दिया, मानो उन्होंने मेरी बात सुनी ही नहीं। फिर मैंने कहा, तो क्या कहती हैं। फुआजी चिल्ला उठीं, न मालूम क्या क्या बकने लगीं। अबकी बार मुझसे न सहा गया। जब आदमी बहुत दुःखी होता है, तब उसकी आवाज़ बन्द हो जाती है। दुःख एक आग है जो मन को तपा देती है तथा अभिलाषा को जला देती है, उसी जलती हुई अभिलाषा का रस आंखों की पनाली से बहकर निकलता है। मैं रो पड़ी।

मैं जब अपने कमरे में से निकल कर फुआजी के पास आरही थी, उसी समय मैंने देखा था कि जगन्नाथ बाबू अंगने में खड़े हैं, कब से खड़े थे मालूम नहीं, क्यों खड़े थे यह भी नहीं बतलाया जा सकता, उन्होंने किसी से कुछ कहा नहीं था, कुछ मांगा भी नहीं था। अवश्य ही मेरी और

फुआजी की बातें उन्होंने सुनी होंगी। जब उन्होंने मेरा रोना देखा, तब वे अपनी जगह से चले, मालूम होता था मानो वे कुछ ढूँढ़ते हों। वे भंडार घर के दरवाज़े पर गये, वहां से एक बर्तन लेकर फिर आंगन में आये। उन्होंने फुआजी को पुकार कर कहा—इसको चावल से भर दो। फुआजी ने कुछ भी नहीं कहा, मैं भी नहीं समझ सकी कि वे क्या करते हैं, फिर उन्होंने चिल्लाकर अम्मा को बुलाया, उनसे कहा—इसमें चावल दिलवा दो। अम्मा ने कहा—क्या करोगे बेटा, उन्होंने कहा—पहले चावल दो फिर पूछना क्या होगा। अम्माजी भी चुप हो गयीं। जगन्नाथ ने फिर पूछा—तुम लोग चावल दोगी या नहीं? फिर भी सब चुप। मैं उनके पास आयी, मैंने पूछा बबुआजी चावल क्या कीजिएगा। उन्होंने कहा—मदारी की दुलहिन को दूंगा। लाओ दो। अब मैं क्या करती, मैं चावल कैसे दूं, क्योंकि इसका परिणाम मुझे मालूम है। मैं जगन्नाथ का हाथ पकड़ कर अपने कमरे में ले गयी। मैंने कहा—चावल वे न देंगी, जाने दो। उस समय मैंने देखा जगन्नाथ की आँखें भर आयीं, वे कुछ बोल न सके, मेरी गोद में उन्होंने अपना मुँह छिपा लिया। मैंने कहा—यदि तुम उसे कुछ देना चाहते हो तो जितना कहो, उतना रुपया मैं दूं, तुम उसे दे आओ। जगन्नाथ ने रोनी आवाज़ से कहा, उसने तो रुपये नहीं मांगे हैं, चावल मांगा है, रुपये

तो मेरे पास भी हैं। मैं चुप होगयी, दोनों ही चुप थे, मैं खड़ी थी, जगन्नाथ मेरी गोद में मुंह छिपाये खड़ा था। उसी समय अम्मा मेरे कमरे में आयीं, उन्होंने उसका हाथ पकड़ कर कहा—चल कितना चावल लेगा, मैं देती हूँ।

जगन्नाथ के बर्तन में करीब दस सेर के चावल आया होगा। बर्तन भर जाने पर उन्होंने अम्मा से कहा—अब पूछो जो पूछना हो, लो मैं बिना पूछे ही बतला देता हूँ—यह चावल मदारी की दुलहिन के घर जायगा।

दसिया के माथे पर चावल रखवाकर जगन्नाथ बाबू उसके यहाँ चावल रख आये।

जगन्नाथ बाबू की जिद्द ने एक उत्तम काम किया इसमें सन्देह नहीं। आप कह सकते हैं कि बुरे उपाय से अच्छा काम करना भी अच्छा नहीं कहा जाता। मैं भी मानती हूँ यह बात ठीक है। पर मुझे तो उनकी जिद्द से उस समय आनन्द ही हुआ था। भगवान् ने उसे हृदय तो दिया है, दुखियों को देखकर उसे दुःख तो होता है। मैं तो समझती हूँ कि उसका जन्म सफल हुआ, जिसका हृदय दुःखियों के दुःख देखकर दुःखी हो। हम लोग हैं ही क्या चीज़, शक्ति ही कितनी है कि किसी का दुःख दूर कर सकें, हाँ उसके पास जाकर रो सकते हैं।

[illegible] मैंने सुना है कि अम्मा ने जगन्नाथ बाबू से पूछा था कि तुमको [illegible] ले जाने के लिए किसने कहा था। उन्होंने कहा—[illegible] नहीं। अम्मा तुम कोई काम न करना चाहो और हम या भाभी चाहें कि यह काम हो, तो क्या तुम न करोगी। दो सेर चावल के लिए भाभी रोएँ यह मैं नहीं देख सकता। सोभी इसमें कोई बुराई नहीं थी, उस गरीबिन के पास खाने को नहीं है, उसका मर्द बीमार है, तुमसे न मांगे तो जाय कहाँ? एक दिन उसने काम नहीं किया, बस, उसके सब हक़ मारे गये। कहती तो थी कि उस दिन उसका बच्चा बीमार था और उसने यह बात कहवा भी दी थी। अच्छा अम्मा, मेरी थोड़ी भी तबीयत ख़राब होती है तो डाक्टर बुलाये जाते हैं, आकाश पाताल एक कर दिया जाता है, हर ट्रेन से एक आदमी शहर पहुँचा ही रहता है। उसका भी तो लड़का वैसा ही है न?

अम्मा ने उन्हें कुछ जवाब नहीं दिया, शायद उनकी बातों से वे ख़ुश न हुई होंगी।

जगन्नाथ बाबू हमारे यहाँ भी आये थे, उन्होंने मुझसे कहा—उसके पास ओढ़ना भी नहीं है, मैं अपनी दुलाई उसे दे देता हूँ। मेरी आँखों में आँसू आ गये, आगे बढ़कर मैंने उन्हें चूम लिया। मैंने कहा—दुलाई देने की ज़रूरत नहीं है।

कल मैं कुछ रुपया दूँगी, उसे दे आना और कह देना कि ओढ़ना बनवा लें।

ये रुपये मैं आपवाले रुपये में से दूँगी, मेरी भौजाई का दिया एक हार मेरे पास है। उसका दाम सात सौ पैंतीस रुपये हैं। वही हार आपके यहाँ मैंने बन्धक रख दिया है, दस रुपये निकाल लिये हैं, सब मिलाकर पांच सौ निकालने का विचार है। मुझे मालूम हुआ है कि यहाँ इस गांव में कितनी ही ऐसी असहाय स्त्रियाँ हैं, जिनके पति, पुत्र खाते बिना मर जाते हैं, और वे भाग्य ठोंककर रोती रहती हैं। इन रुपयों से मैं उनकी सेवा करूंगी। कल से चरखा चलाना शुरू करूंगी। कई सेर सूत होने पर कपड़े बिनवाऊंगी और अपनी बहिनों को दूँगी, उनके बच्चे और उनके पतियों को बाँटूंगी।

मैं जानती हूँ फूआजी बहुत ही अच्छी हैं, उन्हें बड़ी दया है। पर वे भी इन गरीबों को आदमी नहीं समझतीं, और लोग भी नहीं समझते। मैं ऐसा करूँगी जिससे इन लोगों को समझना पड़ेगा।

आपकी बिना आज्ञा के आपके रुपयों का मैंने जो प्रबन्ध किया है, उसके लिए क्षमा कीजिएगा। यदि गुरुतर अपराध हो तो दण्ड की ही व्यवस्था कीजिएगा, पर जो मैंने काम विचारा है वह करने दीजिए। रोकिए मत, मैं मानूँगी नहीं।

मैं उस बाप की बेटी हूँ, जो धनी होने पर भी ग़रीबों के मित्र हैं। जिनकी बड़ी आमदनी का आधा हिस्सा ग़रीबों के लिए ख़र्च होता है। मैं उस महापुरुष की सहधर्मिणी हूँ, जो एक धनी ज़मींदार के ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी त्यागी हैं, जिन्होंने अपने दुःखी ग़रीब भाइयों की सेवा के लिए ५०० मील का पैदल सफ़र किया है। जो ज़मीन पर सोते हैं, साधारण भोजन करते हैं, जो अपने आश्रय में कितने ही ग़रीबों को भाई के समान रखते हैं। अतएव मैं अपने स्त्रीत्व का उपहास होने न दूंगी, मैं अपने मनुष्यत्व के गौरव की रक्षा करूँगी, अधिक से अधिक मूल्य देकर भी। अपने आराध्य-पति और पूज्य पिता के मान को रक्खूँगी।

अब आप सावधान होजाँय। सम्भव है, आज की घटना कुछ रंग पकड़े, पर मैं भयभीत न होऊँगी, अपने अटल निश्चय से विचलित न होऊँगी। जगन्नाथ हमारे साथ हैं।

यही स्थिति है। आगे के लिए आपको कुछ प्रबन्ध करना हो, कर लीजिए।

आपकी दासी

...... भा,

---

(४)

नाथ,

परसों आपको एक पत्र लिखा है और परसों ही का आपका लिखा पत्र मुझे मिला। इसमें आश्चर्य क्या है, ऐसा तो होना ही चाहिए, मैं तो आपकी अर्द्धाङ्गिनी हूँ। विवाह के समय पुरोहित ने आपसे एक मन्त्र पढ़वाया था। "ममैव हृदयं तेऽस्तु" यह मन्त्र आपने मेरे प्रति कहा था। आपने कहा था—तुम्हारा मन, मेरे मन जैसा हो। सच्चे हृदय की प्रार्थना असत्य नहीं हो सकती। मेरा विश्वास है कि जिस समय मैं यहाँ बैठ कर आपको पत्र लिख रही थी, उसी समय आप भी वहाँ लिख रहे थे। सादृश्य तो देखिए, दोनों पत्रों के मज़मून भी एक ही हैं। आप चिन्तित हैं अपने बी० ए० पास मित्र के लिए और मैं चिन्तित हूँ मदारी की दुलहिन के लिए।

आपने लिखा है, "मैं क्यों न अपने मन की उत्तम वृत्तियों को सफल करूँ। जब भगवान् ने मुझे साधन दिये हैं, तब मैं

क्यों न उनके आदेशों का पालन करूं। भगवान् ने मुझे जो सुख दिया है, वह दूसरी तरह का है। मेरा धन मोटर ख़रीदने के लिए नहीं हैं; किन्तु ग़रीबों के लिए अन्न वस्त्र ख़रीदने के लिए है। मेरा धन शराब और अंगूरी सत के लिए नहीं है; किन्तु वह है ग़रीबों की दवा के लिए। मैं अपनी वाणी को सफल समझता हूँ, जब किसी दुःखी का दुःख, उसके द्वारा दूर करता हूँ। मेरा विश्वास है कि जो व्रत मैंने लिया है, उसका उचित पालन कर सकूंगा। मेरे पास जो सब साधन हैं, उन सब में सबसे बड़ा साधन तुम हो। तुम्हारे समान स्त्री पाकर मैं सब कुछ कर सकता हूँ और कुछ न भी रहे, केवल तुम रहो, तो मेरा व्रत पूरा होगा।" ये ही आपके वाक्य हैं। मेरे राजा, मेरे मुकुट, इस दासी पर आपका इतना अनुराग है, आप अपना व्रत पूरा करें और इस दासी को उसके योग्य बनालें। यह कितना बड़ा सम्मान है, मेरा यह कितना बड़ा सौभाग्य है, एक स्त्री का, जो वह अपने प्राण-धन के व्रत की पूर्ति में सहायक होनेवाली है। मैं तो उस यज्ञ पशु को बड़े सम्मान की नज़र से देखती हूँ, जिसके बलिदान से एक को स्वर्ग मिलता है।

मेरे देवता, इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और क्या हो सकता है, जिस बात के लिए मैं आप से प्रार्थना करती हूँ उसीके लिए आप मुझे आज्ञा देते हैं। आपने अपने बी० ए०

पास मित्र के विषय में मेरी राय पूछी है। आपने लिखा है कि वे नौकरी न मिलने से बड़े दुःखी हैं। यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। नौकरियां तो गिनी गिनाई हैं, वे सबको मिल भी कैसे सकती हैं। सुनती हूँ कि नौकरी का दाम केवल बी० ए० पास करना नहीं है, नौकरी के लिए साहब को सलाम करना पड़ता है, साहब को सलाम करनेवालों के द्वार की धूल छाननी पड़ती है, मालिक के सब हुक्म मानने के लिए इकरारनामा लिखना पड़ता है और समस्त परिवार को मालिक के प्रति वफादार रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। कहने का मतलब यह कि हृदय और माथा दोनों स्वामी के यहाँ बन्धक रख देने पड़ते हैं। मुझे मालूम है कि कई लोग ऐसा करने के लिए तैयार भी हो जाते हैं, तो भी उन्हें नौकरी नहीं मिलती। इसका कारण भाग्य की प्रतिकूलता बतलायी जाती है। मतलब यह कि नौकरी एक कठिन चीज़ है, पर मेरी समझ से उसके न मिलने पर दुःख करने की ज़रूरत नहीं है। संसार में तो बहुत सी चीज़ें हैं, पर वे क्या सबको मिल जाती हैं? हमारे पड़ोस का लालजी बेटा चाहता चाहता बूढ़ा हो गया, तो क्या उसे बेटा मिल गया। कितनी पूजा की, देवताओं के मानता माने, पाठ कराया, हरिवंश सुना, तारकेश्वर में जाकर धरना दिया, हाथ दिखाया, ज्योतिषी से जन्मपत्र दिखाया, पर हुआ तो कुछ भी नहीं। अब भी

उसे आशा लगी हुई है। आपके मित्र ने क्या आशा छोड़ दी? नौकरी न मिलने से भी मनुष्य का काम चल जाता है, क्या सभी नौकर ही हैं और सबका काम नौकरी ही से चलता है? पुत्र को तो नौकरी से दामी चीज़ हम लोगों को समझना चाहिए, बेटा न होने से वंशनाश ही हो जाता है। बहुत लोग हैं, जो सन्तान-हीन हैं, आख़ीर वे भी तो जीते ही हैं। अच्छा तो आपके मित्र ने नौकरी ही के लिए बी० ए० पास किया था, यदि हाँ, तो मुझे साफ साफ कहने दीजिए कि वे बड़े मूर्ख हैं। हमारे रसोई के चौके में सात सात आदमी एक साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं। जब सातों बैठकर खाते हों, उस समय आठवाँ कैसे खा सकता है। भले ही उसने पैर धो लिए हों, कपड़े उतार दिये हों। भोजन के लिए तैयार हो जाने से ही तो भोजन नहीं मिल जाता। वह नौकरी चाहता है इससे क्या होता है, देखना है कि नौकरी कहीं ख़ाली भी है, और जो नौकरी ख़ाली है उसके लिए आपके मित्र योग्य हैं कि नहीं, योग्य भी हों, तो इन्हें वह मिल सकती है कि नहीं।

ख़ैर, नौकरी नहीं मिली, न सही। नौकरी के बिना भी तो आमदनी के उपाय हो सकते हैं। जब मैं अपने पिता के घर थी, तो उस समय एक घटना घटी थी, उसका परिणाम बड़ा ही अच्छा हुआ। हमारे पिताजी उस समय काशीजी

आये थे। एक दिन प्रातःकाल मैं अपनी माता के साथ स्नान करके लौट रही थी। दशाश्वमेध घाट पर हम लोग नहाने गयी थीं। हम लोग स्नान करके सड़क पर आयीं और अपनी गाड़ी पर बैठीं। उस समय मेरा ध्यान एक आदमी की ओर गया। वह मुझे घूर रहा था, मुझे बड़ा बुरा मालूम हुआ। खैर, गाड़ी आगे बढ़ गयी. घूरनेवाले साहब पीछे ही रह गये। दूसरे दिन हम लोग जब स्नान करने गयीं तब उन साहब को फिर देखा, वे गङ्गातीर पर खड़े थे, उन्होंने स्नान नहीं किया था, शायद वे मुझको परखते होंगे। जब हम लोग आयीं, तब पण्डा ने घाट खाली करा दिया, लोगों को हटा दिया, वे साहब भी हटाये गये। उन्हें बुरा तो ज़रूर मालूम हुआ होगा, पर पण्डा के सामने उनकी चलही क्या सकती थी। जब हम लोग स्नान करके ऊपर आयीं तब वे दिखायी न पड़े। हम लोग अपनी गाड़ी पर बैठकर चलीं। गाड़ी के चलते ही बाबू साहब का आवि-र्भाव हुआ, वे मुझ पर नज़र गड़ाये बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ रहे थे। मैंने उधर से मुँह फेर लिया, उसी समय धमाके का शब्द सुनकर मैंने उधर देखा, जो देखा, उससे आनन्द ही हुआ। देखा कि वे ही बाबू साहब सड़क पर गिरे हैं। मेरी माता ने भी देखा, उन्होंने गाड़ी खड़ी कराई, पर उनको उठानेवाला कोई दिखायी न पड़ा। तब मेरी माता ने

अपना जमादार भेजकर उसे उठवा मँगाया, वह गाड़ी पर रखा गया। माता का यह काम उस समय मुझे बड़ा बुरा मालूम हुआ। मैंने उनसे कह दिया कि मैं दूसरी गाड़ी से आती हूं, आप जांय। माता ने जमादार के साथ उसे अपने घर भेज दिया और आप दूसरी गाड़ी पर बैठ कर पीछे से आयीं।

घर आकर हम लोगों ने देखा कि उन्हें होश आया हुआ है। पिताजी कहीं बाहर गये हुए थे। उनके कमरे के बाहरवाले बरांडे में आराम कुर्सी पर वे बैठे थे। जब हम लोग आयीं, तब भी वे बैठे थे। मेरी माता को देखकर उन्होंने उठना भी मुनासिब नहीं समझा। माता ने पूछा कि क्यों, गिर कैसे गये थे, उन्होंने जवाब नहीं दिया। माता ने कहा-रास्ते में चलते समय इधर उधर ताका मत करो, नहीं तो आज तो बेहोश ही हुए हो, किसी दिन मर जाओगे। समझे? उन्होंने फिर भी कुछ नहीं कहा—पर मैंने सुना कि माता के ऐसा कहने पर उनके चेहरे का रंग उड़ गया था। माता ने फिर पूछा—कुछ खाया है कि नहीं।

उसने कुछ उत्तर न दिया।

माता ने फिर पूछा। कुछ पूछती हूं, इस वक्त तो तुमने नहीं खाया है। यह मालूम है। मैं पूछती हूँ कि रात को खाया था कि नहीं?

अब की बार उसका मुँह खुला। उसने धीरे से कहा—जी नहीं, हम लोग एक ही बार खाते हैं।

माता ने कहा—खाने को भेजती हूं खालो, फिर कल दस बजे के बाद यहां आना। कल यहीं खाना भी।

माता ने उसे जलपान के लिए पूड़ियां भेज दीं और एक रुपया। उस दिन खा पीकर चला गया। दूसरे दिन फिर आया। माता ने उससे पूछा—कितने दिनों में तुम्हारा पढ़ना ख़तम होगा। उसने कहा—१० वर्ष और लगेंगे। माता ने कहा—तब तक तुम्हारे घरवाले क्या खायंगे, उसने कुछ जवाब नहीं दिया। माता ने कहा—तुम पढ़ न सकोगे और पढ़ने पर भी तुम्हें नौकरी मिल जायगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं। तुम नौकरी करोगे? उसने ज़रा प्रसन्नता के साथ पूछा—क्या आपके यहाँ? माता ने कहा—नहीं, तुमको मैं अपने यहाँ नहीं रख सकती। भले ,घर की बहू बेटियों को घूरते मैं तुम्हें अपनी आंखों देख चुकी हूं। तुम ग़रीब हो, इसलिए मैं चाहती हूं कि यदि तुम चाहो, तो मैं तुम्हारे लिए कुछ प्रबन्ध करा दूं।

उसने कहा—जी अच्छा।

माता ने पूछा—तुम क्या खाओगे, क्या हमारे यहां की कच्ची रसोई खा सकते हो?

उसने कहा—जी मैं ब्राह्मण हूँ, कैसे खा सकता हूं।

माता ने कहा—ब्राह्मण तो मैं भी हूँ। ख़ैर, तुम्हारे लिए और प्रबन्ध हो जायगा। पर बेटा, याद रखना, ब्राह्मण के घर की कच्ची रसोई खाने से जात नहीं जाती, जात जाती है, दूसरों की बहू-बेटियों को घूरने से।

माता ने यह बात कई बार उस लड़के से कहीं थी, पर अबकी बार उन्होंने इस ढंग से कही थी कि वह रो पड़ा और मेरी माता के सामने ज़मीन पर गिर पड़ा।

माता ने उसे उठवाया और शान्त किया।

माता ने कहा—घबराओ मत, भगवान् ने चाहा, तो यहाँ से तुम्हारी भलाई ही होगी। बैठो, भोजन करलो, जाना मत, मालिक आते हैं, तो मैं तुम्हारा कुछ इन्तज़ाम करा देती हूँ।

पिताजी के बाहर से लौटने पर माता ने उस लड़के को सब बातें बतला कर कहा कि इसके लिए कोई प्रबन्ध कर दीजिए। हाँ, घूरनेवाली बात उन्होंने उनसे नहीं कही।

वह लड़का छरहरे डील का था। पिताजी ने उससे बहुत सी बातें कह कर उससे कहा कि तुम बाबू बनना चाहते हो कि धनी? उसने कुछ जवाब नहीं दिया। शायद उसने मेरे पिताजी का मतलब समझा ही न हो। वह चुप रहा, पिताजी ने फिर कहा—तुमको मैं एक रुपया देता हूँ, एक टोकरी ख़रीद लो। कल प्रातःकाल चौकाघाट जाकर भिंडी

ख़रीदो और बाज़ार में लाकर बेंचो। सब बेंच कर मेरे पास आओ और मुझे बतलाओ कि तुमने क्या आमदनी की।

बहुत सोच विचार के बाद लड़के ने पिताजी की बात मानली और वह प्रसन्नतापूर्वक रुपया लेकर चला गया। दूसरे दिन एक बजे के समय हमारे यहाँ आया। उस समय पिताजी के यहाँ कोई साहब आये थे, वे उनसे ही बातें करते थे, अतएव वह लड़का माताजी के पास आया। उसने कहा- कल बाबूजी ने एक रुपया दे कर तरकारी ख़रीद कर बाज़ार में बेचने को कहा था। मैंने पांच आने को एक टोकरा ख़रीदा और छः आने की भिंडी। भिंडी तेरह आने में बिकी है, इस समय मेरे पास एक रुपया दो आने पैसे हैं। दो सेर के क़रीब भिंडी भी बची है।

मेरी माता ने उसकी बातों में कुछ उत्साह नहीं प्रकट किया। शायद वे उसके लिए किसी दूसरी तरह का प्रबन्ध करवाना चाहती थीं।

इसी प्रकार पांच दिनों तक वह बेंचता रहा। उस दिन उसके पास तीन रुपये पांच आने पैसे थे। पिताजी ने उससे कहा, एक छोटी सी दूकान करलो। वह पिताजी का मुँह देखने लगा। पिताजी ने कहा—रुपये मैं देता हूँ। कितने रुपये चाहिए? उसने कुछ कहा नहीं। तब पिताजी ने सौ रुपये से कुछ अधिक रुपये उसे दिये। उन रुपयों में

पचास माल ख़रीदने के लिए और बाक़ी दूकान का किराया तथा भोजन के लिए दिया।

यही घटना है, आज पाण्डेजी की मेवा की दूकान बनारस के चौक पर है। अच्छी आमदनी है। जबतब वे पिताजी के यहाँ आते हैं, जब आते हैं, तब मेवा ले आते हैं। क्या आप अपने मित्र के लिए ऐसा कोई उपाय सोच सकते हैं? मैं नहीं जानती, उनकी प्रकृति कैसी है, उनके भाव कैसे हैं? क्या वे इस प्रकार का काम करना पसंद करेंगे? हमारे भैया कहते हैं कि आजकल के नवयुवक, मन को दुःख पहुँचाना क़बूल करते हैं, पर शरीर को नहीं। यदि ऐसी बात है, तो सम्भव है आपके मित्र भी इसी दल के लोग हों। फिर आपसे उनकी मैत्री कैसे हुई? ख़ैर, जो हो, उनके सम्बन्ध में जो आप उचित समझिए, निश्चित कर दीजिए। यदि आप उन्हें नौकरी दिलाना चाहें, तो मेरे पिताजी के यहाँ पत्र लिख दीजिए, वहाँ कुछ न कुछ प्रबन्ध हो ही जायगा। यदि कोई स्वाधीन काम करना चाहें और आप उनको रुपये देना चाहते हों, तो लिखिए मैं आपके रुपयों में से, रुपये भेज दूँ।

मदारी की दुलहिनवाला मामला जल्दी निपटता नहीं दीखता। समूचे गांव में इसकी चर्चा होरही है, अनुकूल तो कम, पर प्रतिकूल सम्मतियां दी जारही हैं।

हाय, हम लोग इतने गिर गये हैं, एक मनुष्य की सहायता करते एक मनुष्य को देखना भी नहीं चाहते। आप जानते हैं, प्रतिकूल मत मनुष्य को और दृढ़ बना देता है। मेरे विरोध में जितनी बातें होरही हैं उससे मैं डरती नहीं, किन्तु निडर होरही हूँ। जगन्नाथ बाबू ने एक दिन एक औरत को घर से बाहर निकाल दिया था। वह मेरे ही सम्बन्ध की कुछ बातें फूआजी से कह रही थी।

सत्कर्म में बाधा होती ही है, अभी तो यह प्रारम्भ हुआ है। आगे न मालूम क्या हो। मुझे और कोई चिन्ता नहीं है, चिन्ता है आपकी। मैं उत्तम से उत्तम सत्कर्म भी नहीं करना चाहती, जिससे आपको कष्ट हो। यह स्पष्ट है कि मेरा वर्तमान व्यवहार घरवालों को पसन्द नहीं है। यदि ये लोग अधिक अप्रसन्न हुए और उसके कारण आपके मन को कष्ट हुआ, उस समय मेरी क्या दशा होगी, इसी बात की चिन्ता है।

ख़ैर जो होगा, देखा जायगा, पर मैं समझती हूँ ये सब उपद्रव समय पर आप ही आप शान्त हो जायँगे।

आपकी

...... भा,

---

(५)

नाथ,

आपके पत्र से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप अपने मित्र के साथ यहाँ दसहरे में आवेंगे। आइए और अपने मित्र को भी साथ लाइए। पर इसके लिए अभी सवा महीने का विलम्ब है, तब तक आपके मित्र का ख़र्च कहाँ से चलेगा? बी०, ए०, पास हैं, ख़र्च तो चाहिए ही, सो भी थोड़ा नहीं, कुछ अधिक ही। यही तो बी०, ए०, पास का एक ख़ास गुण हैं। क्या सचमुच बी०, ए०, पास करने से आदमी कुछ का कुछ हो जाता है? पर कैसे कहूँ, आप तो नहीं हुए, मेरे पिताजी, मेरे भैया तो नहीं हुए, ये तीनों एम०, ए०, हैं। आप एक धनी के पुत्र हैं, मेरे भइया भी धनी के पुत्र हैं, आप लोगों को ख़र्च करने के लिए घर से काफी रुपये मिलते थे, आप लोग स्वयं भी कुछ कम नहीं कमाते। आपकी एक खद्दर की धोती और तीन अँगौछियों की बात मैं भूल नहीं सकती! भैया के तीन कुरते तीन साल चलते हैं। फिर

बी०, ए०, पास होने की यह खासियत है, यह मैं कैसे कहूँ।

मेरा तो इन्हीं तीन एम० ए० पास मनुष्यों से परिचय है, अतएव इस छोटे ज्ञान के आधार पर कोई नियम बनाना ठीक नहीं है। अतएव मैं मान लेती हूँ कि बी० ए० पास करने से आदमी बड़ा बन जाता है, और बड़ों की बड़ी बात होती है, उनके खर्च बढ़ ही जाते हैं। खर्च तो बढ़ जाते हैं, पर आमदनी की भी तो कोई सूरत होनी चाहिए। आमदनी के बिना बढ़े, खर्च का बढ़ जाना तो कुलक्षण है, दीवाले का परवाना है। भला बतलाइए, आमदनी का ठिकाना ही नहीं, आप लगे खर्च करने। आवेगा कहां से। घरवाले भूखो मरेंगे, स्त्रियों के बदन पर फटे चीथड़े होंगे और आप बाबू साहब बनकर काकुल सँवारेंगे, कैसी भद्दी बात है। यदि ऐसा विचार और आचरण रखनेवाला कोई बी० ए० पास हो, तो उसे शर्म आनी चाहिए।

इस महीने की एक पत्रिका में "हिन्दू सम्मिलित परिवार प्रथा" पर एक लेख पढ़ा है। लेखक ने अलग अलग रहने के ढंग को पुष्ट किया है। मैंने वह लेख बड़े ध्यान से पढ़ा है, उस पर विचार भी किया है। मुझे तो उस लेख की कोई भी दलील मज़बूत मालूम न हुई। आप कहते हैं "एक आदमी की कमाई अधिक आदमी खाँय, यह अच्छा

नहीं है, इससे बैठकर खानेवालों की शक्तियां विकसित नहीं होतीं।" यह युक्ति सुनने में अच्छी लगती है। पर बैठकर तो कोई नहीं खाता। मैं अपना ही उदाहरण पेश करती हूँ। हम लोग अपने परिवार में आठ आदमी हैं, दो नौकरानी हैं, दो नौकर हे, एक मुन्सीजी हैं और एक सिपाही। मैं इन छः आदमियों की बात छोड़ देती हूँ, क्योंकि ये नौकर हैं। आठ आदमियों में आप तो वकालत ही करते हैं, आप कमाते हैं। बाबूजी ज़मीन्दारी का इन्तज़ाम करते हैं और मामले मुक़द्दमें देखते हैं। चाचाजी के ज़िम्मे खेती का काम है। बतलाइये, कौन ख़ाली है। अब बचीं हम लोग स्त्रियाँ, पर लेखक को, आप मेरी ओर से विश्वास दिला सकते हैं कि हम लोग भी ख़ाली नहीं रहतीं। घर में इतना काम रहता है कि उनके लिए मीयां बीबी अलग रहने वालों को बहुत अधिक ख़र्च करना पड़ता है, फिर भी सब काम ठीक ठीक नहीं होते।

हम लोगों के घरों में कोई बीमार होता है, सेवा शुश्रूषा हम लोग स्वयं कर लेती हैं। पर अलग रहने वालों को "नर्स" मुक़र्रर करनी पड़ती है। उन्हें बीस तक प्रति दिन की मजूरी देनी पड़ती है। जिनके पास इतनी रक़म नहीं होती, उन्हे अस्पताल की शरण लेनी पड़ती है। मीयां या बीबी सांझ सवेरे जाकर देख आते हैं, मेरी समझ से तो यह बड़ी ही दयनीय दशा है। इस प्रकार असहाय होने की ज़रूरत!

मैं तो समझती हूं कि बी० ए० पास करने के कारण लोगों में अधिक खर्च करने की जो आदत पड़ गई है और आमदनी नष्ट हो गई है, इसी कारण इस नये सिद्धान्त को जन्म दिया जारहा है, इसके प्रचार का उपाय किया जा रहा है। लोग समझते हैं कि अगर घरवालों को न देना पड़ता, तो यह सब हमारे ही उपयोग में न आता। इसीलिए इस नये सिद्धान्त की ओट ली जारही है।

आप बाहर हैं, बाबूजी भी अक्सर बाहर ही रहते हैं, फिर भी हमारा घर भरा हुआ है। पर क्या यही बात स्त्री पुरुष अलग रहनेवालों के लिए भी है। पति बाहर काम पर चला गया, स्त्री अकेली घर में पड़ी है, क्या करेगी, कुछ पढ़ेगी, फिर सोएगी, या टोले महल्ले की औरतों से बातें करेगी। उनके संसर्ग से तरह तरह की बातें सीखेगी। इस समय हमारे देश में नीच विचारवालों की संख्या बढ़ रही है। ऐसी दशा में अनर्थ होने की सम्भावना ही नहीं, किन्तु अनर्थ हो भी जाते हैं। घर कलहमय हो जाता है, काम-धाम न रहने से स्त्री दुर्बल होकर बीमार हो जाती हैं। फल यह होता है कि जो एक की कमाई बहुत ,लोग खाते थे, वह अब एक के लिए भी नहीं अँटती। मैं तो समझती हूं कि देशबासी ऐसी मूर्खता से अलग ही रहेंगे।

शक्तिमान् क्या बैठा रहता है या उसे इस बात की ज़रूरत रहती है कि कोई उसे अपनी शक्तियां विकसित करने का मैदान बतलावे। चाचाजी को लोग निकम्मा बतलाते हैं, पढ़ना लिखना छोड़कर ये खेती में लगे हुए हैं। बी० ए० के पहले वर्ष तक की पढ़ाई इन्होंने पढ़ी है। अब खेती करते हैं। इनकी मेहनत से प्रतिवर्ष कम से कम आठसौ मन अन्न उत्पन्न होता है। तीन रुपये मन के हिसाब से यदि दाम जोड़ा जाय, तो चौबीस सौ रुपये होते हैं। दो भैंस, दो गाय, आठ बैल और एक घोड़ा, ये पालते हैं। साल में दोबार इनकी ख़रीद बिक्री वे करते हैं। जिससे पांच से सात सौ रुपये तक उन्हें मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपनी कमाई के रुपयों से अन्न ख़रीदते हैं, लकड़ी ख़रीदते हैं और इनकी बिक्री से भी कुछ पैदा करते ही हैं। चाचाजी को लोग कहते हैं कि तुम्हें किस बात की कमी है, जो तुम ये सब काम करते हो। वे कहते हैं कि मैं बैठा क्यों खाऊं, क्या मेरे हाथ पैर नहीं हैं। मेरी समझ से तो चाचाजी किसी मुन्सिफ़ से कम आमदनी नहीं करते। हां, जो मुन्सिफ़ घूँस लेता हो, उससे तो चाचाजी की आमदनी कम है ही। पर घूँस से आमदनी बढ़ाकर ख़ुद अपनी नज़रों में अपराधी बनना, पत्ती की खड़खड़ाहट से भी कांप जाना, दुनियाँ की नज़रों में ख़ुद अपने को अपराधी समझना और

नज़र छिपाकर चलना, इनकी अपेक्षा, तो यह थोड़ी आमदनी बुरी नहीं है और न कम ही है।

वर्तमान शिक्षा, सम्मिलित परिवार-प्रणाली के अनुकूल नहीं है, यह मैं जानती हूँ। यह शिक्षा केवल भूख बढ़ाना जानती है, भूख बुझाने का उपाय नहीं बतलाती। अपनी कमाई अपने ही उपयोग में लगाई जाती है, ब्राह्मण-देवता के लिए ख़र्च करना व्यर्थ क़रार दे दिया गया है, भूखों को देना निकम्मों की संख्या बढ़ाना है और यह एक तरह से देश का द्रोह करना है। ऐसे विचार के लोग सम्मिलित परिवार में नहीं रह सकते। सम्मिलित परिवार तो संसार के यात्रियों का एक दल है। उस दल की रक्षा के लिए प्रत्येक स्त्री पुरुष अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार ज़िम्मेदार है। कोई महीन काम करता है कोई मोटा। कोई अधिक आमदनी करता है, कोई कम। पर हक़ सबका बराबर है। हज़ारों माहवार पैदा करनेवाले का और दस पैदा करनेवाले का परिवार में बराबर सम्मान होना चाहिए। जो हज़ार कमाता है, उसे समझना चाहिए कि ये हज़ार, परिवार के लिए हैं, मेरे लिए नहीं। मैं परिवार को हज़ार देता हूँ और परिवार मुझे सुख स्वाच्छन्द्य देता है। मेरे बालबच्चों का भरण-पोषण करता है, उनको शिक्षा देता है, उनको स्वस्थ रखने का उद्योग करता है, मेरे लिए, मेरी स्त्री के लिए, आव-

श्यक प्रबन्ध करता है। मैं इन झंझटों से मुक्त रहता हूँ। अपना काम करता हूँ। इसी प्रकार की समझ से प्रत्येक स्त्री पुरुष को काम लेना चाहिए, इससे सम्मिलित परिवार पुष्ट होता है, परिवार के लोग निश्चिन्त और निर्भय रहते हैं। वे बलवान् रहते हैं, किसी भी कठिनाई का सामना करने की शक्ति उनमें वर्तमान रहती है।

ये सब लाभ अकेले रहनेवालों को नहीं होते। लड़का बीमार हुआ, पुरुष दवा लाने गया, अकेली स्त्री लड़के के पास है कहीं अभाग्यवश रात हुई तो बिना मारे मौत! घर के और सब काम बन्द हो जाते हैं, रसोई तक बन्द हो जाती है या ठीक समय से नहीं मिलती। इसका प्रभाव स्त्री पुरुषों के स्वास्थ्य पर भी पड़ता ही है। मैं तो इसे असहाय अवस्था ही समझती हूँ।

पर सम्मिलित परिवार में रहनेवालों का विचार उदार होना चाहिए, सबको अपने बराबर समझने की बुद्धि होनी चाहिए, विलास से अलग रहने की समझदारी होनी चाहिए। समस्त परिवार की आवश्यकताएँ बराबर समझने की दृढ़ता होनी चाहिए, जहाँ ये भाव नहीं हैं, वहाँ सचमुच सम्मिलित परिवार एक दुःखमय स्थान हो जाता है।

हाँ, तो मैं आपके मित्र की बातें कहती थी। क्या वे सम्मिलित-वादी हैं या पृथक्‌वादी। पृथक्‌वादी होने पर

भी उनकी स्त्री हो होगी, बाल बच्चे हों होंगे, उनके लिए क्या हो रहा है ? माना कि वे स्वयं अपने एक मित्र के यहाँ हैं, पर और लोग ? उनके लिए भी तो कुछ चाहिए ही, परिवार के सामने दिखा लिया बनकर खड़ा होने से तो काम नहीं चलता। असमर्थ होने की बात दूसरी है। फिर भी आपके मित्र को धैर्य है, इसके लिए उन्हें धन्यवाद।

मेरा काम चला जा रहा है। मदारी तो कभी का अच्छा हो गया है। वह कलकत्ते जाना चाहता था। उसकी दुलहिन आयी थी, कहती थी कि किराये का इन्तज़ाम हो जाय, तो उन्हें कलकत्ता भेज दूं। मैंने कहा—कि कलकत्ता भेजने को रुपया तो मेरे पास नहीं है। हां, अगर वह यहाँ रहकर कुछ रोज़गार करना चाहे, तो मैं कुछ रुपये दे सकती हूँ। उसने कहा—यहाँ कौन रोज़गार है बहू, यहाँ के रोज़गार से क्या होगा, बीमारी में कर्ज़ हो गया है, वह भी चुकाना है, यह सब यहाँ के रोज़गार से कैसे होगा ?

मैंने उसे चालीस रुपये दिये हैं और कपड़े की फेरी करने के लिए कहा है। वह शहर से कुछ अँगौछियाँ धोती आदि ले आता है और गावों में बेच आता है। आठ दस आने पैसे रोज़ उसे बच जाते हैं। गाँव के ख़र्च के लिए इतना अधिक है।

एक दिन सदारी की दुलहिन आयी थी और पौने चार रुपये मुझे दे गयी है। मैंने पूछा—ये कैसे रुपये हैं। उसने कहा—सूद के रुपये हैं। मुझे हँसी आ गयी। मैंने रुपये रख लिये हैं। सूद तो मैं उससे क्या लूंगी, मूल भी लेने का विचार नहीं है। उसके रुपये जमा करती जाती हूँ, कुछ और जमा होने पर उसे ये रुपये लौटा दूंगी जिससे वह और अधिक कपड़े ख़रीद सके और कुछ और अधिक लाभ उठा सके।

आपने जो दवाइयों का बक्स भेजा था, उससे लोगों को बड़ा लाभ हुआ है। लोग ख़ूब आशीर्वाद देते हैं। मनोहर की मां कहती थी कि बहू के हाथ में तो अमृत है। सोमारी कहती थी कि बहू तो हमारे लिए देवी दुर्गा है। इसी तरह की अनेक उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ, अतिशयोक्तियाँ मेरे सम्बन्ध में की जाती हैं।

इन सब बातों का प्रभाव घरवालों पर कैसा पड़ता है यह मुझे मालूम नहीं, मैंने जानने की कोशिश भी नहीं की। किसी के अच्छा बुरा समझने से और मुझसे क्या मतलब ? मैं तो यह काम इसलिए नहीं करती कि कोई मेरी तारीफ़ करे। यदि कोई मेरी निन्दा करे तो मैं इस काम को छोड़ भी नहीं सकती। मुझे इस काम से प्रेम है इसलिए करती हूँ, मैं समझती हूँ कि यह काम मुझे करना चाहिए, इसलिए करती

हूँ। मैं जानती हूँ कि मेरे इस काम से कुछ लोगों को फ़ायदा है इसलिए करती हूँ, मुझे इस काम में आनन्द आता है इसलिए करती हूँ। जिसके जो मनमें आवे, समझे। मुझे कोई ज़रूरत नहीं कि मैं लोगों की समझ परखती फिरूँ, लोगों के मन की बात सूंघा करूं।

आपने मुझसे पूछा है कि तुम्हारे लिए क्या लाऊँ। नाथ, मेरी इच्छाएँ तो आपको अर्पित हैं, जो आपकी इच्छा हो ले आइए, न इच्छा हो न ले आइए। हाँ, कुछ कपड़े अवश्य ले आइएगा। बहुत से लड़के हैं, जिनके पास कुरते नहीं हैं, जाड़ा आने ही वाला है। कुछ कुरते सींकर इनको देना चाहती हूँ। मैं आपके स्वागत की तिथि की प्रतीक्षा करती हूँ।

आपकी दासी

.........भा

---

(६)

नाथ

मैं जीत गयी। आजकल घरवाले मेरी बड़ी इज़्ज़त कर रहे हैं, फुआजी मेरे लिए इतनी चिन्तित हो गयी हैं कि कुछ पूछिए मत। मेरे लिए कभी किसी को, कभी किसी को डांटती फटकारती रहती हैं। इस व्यवहार पर मुझे हँसी आती है। क्या कारण है कि हम अपने हृदय को ठीक रूप में प्रकाशित न होने दें। मन में कुछ हो और दिखाया जाय कुछ। क्या यह अच्छी बात है? मैंतो इसे ग़ुलाम तबीयत का भद्दा परिणाम समझती हूं। मदारी का बन्दर भूखा हो या प्यासा, अपने मालिक की रोटी के लिए उसे नाचना पड़ेगा, दाँत दिखाने पड़ेंगे। क्या हम लोग भी वैसी ही हैं? आप आरहे हैं, मैं आपकी सहधर्मिणी हूं, अतएव आपका मुझपर स्नेह होना आवश्यक है। मैं जिस पर अप्रसन्न होऊँगी उस पर आपका भी प्रेम न होगा, जिसकी शिकायत मैं आपसे करूंगी उस पर आप क्रोध करेंगे। आपका क्रोध निरर्थक न होगा। अतएव

मुझको प्रसन्न करना चाहिए, मुझसे दोस्ती करनी चाहिए, मेरे हृदय में यह बात बैठा देनी चाहिए कि यह व्यक्ति मुझ पर अनुराग रखता है, मेरी भलाई का ख़याल रखता है। इसका फल उत्तम होगा। मैं प्रसन्न होकर उस व्यक्ति की आप से सिफ़ारिश कर सकती हूं। आप स्वयं भी उसको जान सकते हैं और फिर उस पर आपका अनुराग हो सकता है। इसी प्रकार के भावों के कारण इस घर में आज कल मेरी इज़्ज़त बढ़ गयी है, जिसे मैंने अपनी जीत कहा है। सच पूछिए तो यह जीत नहीं है, किन्तु अधःपतित हमारे समाज के नीच भावों का प्रत्यक्ष दृश्य है। क्या मैं इतनी ओछी हूं कि अपने ख़ास विरोध के कारण किसी को नुक़सान पहुँचाने के लिए आपकी सहायता लूंगी, या आपही इतने अविवेकी हैं कि मेरे कहने से लोगों पर बरसते चलेंगे। आजतक ऐसा उदाहरण तो नहीं हुआ है। अजी फ़ुरसत किसे है, जो आपसे ये बातें कहे। इस प्रकार की गन्दी बातों की पिटारी आपके सामने खोलकर आपके मुखचन्द्रामृत-पान का अवसर खोदूं ऐसी मूर्ख स्त्री मैं नहीं हूं और आप भी......पर इन सब अशिक्षिताओं को इन बातों का ज्ञान थोड़े ही है। ये तो स्वेच्छा से बनी हुई रंगरूट हैं, कारण अकारण अपनी साथियों पर, सास पर, ननद पर धावा बोल दिया करती हैं और अपने को निर्दोष साबित

करने के लिए अथवा अपनी हार को जीत के रूप में बदलने के लिए पति की सहायता लेती हैं, वे पति को अपनी ओर से अपनी विपक्षियों से लड़ने के लिए प्रोत्साहित करती है, कोई पति तो उत्साहित हो तयार हो जाता है और किसी को ज़बरदस्ती तयार होना पड़ता है। हमारे समाज के अन्तःपुरों में ऐसे ही अधिकांश स्थानों का दृश्य है और उसीके एक अंग का अभिनय आज कल हमारे घर में हो रहा है। पर मेरे सामने तो इस का कुछ मूल्य नहीं है।

अपने लिए न सही, फिर भी यह ऐसी बात नहीं है जिसकी उपेक्षा की जाय; क्योंकि यह तो ऐसी बात है, जिसका मनुष्य में होना समाज के लिए हानिप्रद है, लज्जा-जनक है। यह दब्बूपन ग़ुलामी का चिह्न है। ऐसी घटनाएँ हमें एक दृश्य का स्मरण कराती हैं। हमारे घर के बगल में एक मुख़्तार साहब रहते थे। वे सायंकाल प्रायः हमारी बैठक में आ जाया करते थे और पिताजी से बातें करते थे। मैं भी कभी कभी वहाँ चली जाती थी। एक दिन कोई दारोग़ा साहब बैठे थे। वे शायद आबकारी के दारोग़ा थे। एक मुकद्दमें में फँस गये थे, वही पिताजी से सिफ़ारिश कराने आये थे। मुख़्तार साहब भी आये। न मालूम कौनसी बात हुई, उसी सिलसिले में मुख़्तार साहब अँग्रेज़ी सल-

तनत, अँग्रेज़ी सभ्यता, अँग्रेज़ी न्याय और भी अँग्रेज़ी चीज़ों को कोसने लगे। दिमाग़ का पारा बहुत ऊपर चढ़ गया मालूम हुआ। हम लोगों को हँसी आ रही थी, पिताजी भी तकिये के सहारे लेट गये थे। दारोग़ाजी चुपचाप सिर झुकाये बैठे थे। न जाने क्यों, मुख़्तार साहब थोड़ी देर के लिए ठहरे। दारोग़ाजी शायद ऊब गये थे। अवकाश पाकर वे उठे और चलने के लिए खड़े हुए। पिताजी ने कहा—अच्छा दारोग़ाजी, आप जा रहे हैं। मैं पता लगाकर आपको ख़बर दूँगा। दारोग़ाजी चले गये। हमने सोचा था कि मुख़्तार साहब फिर अपना व्याख्यान शुरू करेंगे। पर हमारा सोचना ठीक न निकला। मुख़्तार साहब चुप ही रहे। हमने उनकी ओर देखा। आश्चर्य हुआ। मुँह सूख गया था, घबड़ाये हुए से थे। पिताजी भी अभी तक चुप थे। पुनः बोले,—हाँ मुख़्तार साहब आपका कहना तो ठीक है आपके विचार भी बड़े उत्तम हैं, पर मेरी समझ से अपने स्वयं उत्तम बनने की ज़रूरत है। दूसरों की बुराई से तो हमें कोई लाभ होगा नहीं। मुख़्तार ने मानों यह बात सुनी ही नहीं। वे हड़बड़ाये से पिताजी से बोले—यह दारोग़ा कौन था। आपने पहले से बतलाया नहीं। मैं क्या बक गया। यह जाकर कहीं रिपोर्ट न करदे। ये होते हैं बड़े ......।" मेरे भैया भी वहीं बैठे थे. मुख़्तार की बातें सुनकर उन्होंने पिताजी की ओर देखा।

उनका चेहरा लाल हो गया था। पिताजी समझ गये। उन्होंने भैया को पान ले आने के लिए भेजा। मुझे हँसी आरही थी, पर बाबूजी के डर से हँस नहीं सकती थी। भैया जब जाने लगे, तब मैं भी उनके साथ चली। मालूम नहीं बाबूजी ने मुख़तार साहब से क्या कहा, मुख़तार साहब का भय दूर हुआ कि नहीं।

वे तो अशिक्षित नहीं हैं। उन्हें तो समझ बूझ कर बातें करनी चाहिए। जिस बात के कहने में भय हो, वह बातक्यों कही जाय। परिणाम सोचकर काम करना ही तो बुद्धिमानी है। बुद्धिमान् को तो ऐसी बातें मुँह से न निकालनी चाहिए जो सब के सुनने के योग्य न हों। जब दारोग़ाजी का भय बना है, तब वैसी बातें क्यों कही जांय जो उनके सुनने लायक न हों। पर मुख़तार ही साहब नहीं, हमारे यहाँ के बहुत से लोग सूखी शेखी हांका करते हैं। हमें पुरुष समाज से क्या मतलब? यद्यपि यह बुराई स्त्री समाज में पुरुषों से ही आयी है। बहुत से पुरुष अपनी स्त्री के सामने अपनी विद्वत्ता, पराक्रम, बुद्धिमानी आदि की डींग हांका करते हैं। स्त्रियाँ भी तो कुछ समझ रखती ही हैं। कमसे कम अपने पतिदेव का परिचय तो उन्हें रहता ही है। उनके इस व्यवहार से वे समझ लेतीं हैं कि अपने से छोटों के सामने डींग मारना चाहिए। फिर भी मैं इसके लिए किसी पुरुष को दोष देना

नहीं चाहती और न पुरुष समाज की इस बुरी आदत को दूर करने ही के लिए उद्योग करना चाहती हूँ। मेरा वक्तव्य स्त्रियों के सम्बन्ध में है।

स्त्रियों के इस भाव ने हमारे परिवारों की सुखशान्ति नष्ट करदी है। परिवार की बड़ी बूढ़ी कही जानेवाली स्त्रियाँ अकारण अपनी बहुओं पर बेटियों पर धाक जमाया करती हैं। उन्हें डांटा करती हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा न करने से बहूबेटियाँ बिगड़ जाती हैं। वे सोख हो जाती हैं। अतएव उनको सोख न होने देने के लिए वे, उन्हें अक्सर डांटा डपटा करती हैं। इसका फल उनके विश्वास के ठीक उल्टा होता है। बहू बेटियों के मनमें अपने बड़ों का एक भय बैठ जाता है, उसे आतंक भी कह सकते हैं। वे सदा डरा करती हैं। उनका ऐसा कोई काम हो नहीं रहता, जो डर से ख़ाली हो। नाराज़ होने का कोई कारण हो, तब तो मनुष्य ऐसा प्रयत्न कर सकता है, जिससे बड़ों को नाराज़ होने का अवसर न आवे। यहाँ तो ऐसी बात नहीं होती। उसी काम के लिए एक बार नाराज़ी नहीं होती और एक बार वही काम नाराज़ी का कारण बन जाता है। ऐसी दशा में यदि कोई नाराज़ करना न भी चाहे तो भी वह अपने मनोरथ सिद्ध नहीं कर सकता। मालूम भी तो हो, आप किस बात से नाराज़ होते हैं। कौन सी बात आपको नापसन्द है।

इससे बहूबेटियाँ कुछ सीख नहीं पातीं। बहुत सी तो काम करना ही छोड़ देती हैं। वे कहती हैं "जब मेरा कोई काम ही उन्हें पसन्द नहीं आता, तब मैं क्यों मरूं पचूं। करलेंगी ख़ुद या किसी से करा लेंगी। मुझसे तो यह न होगा कि काम भी करो और बातें भी सहो।" भला बड़ी बूढ़ी ये बातें कैसे सह सकती हैं। बहू काम न करें यह कैसे होगा। यह दोनों ओर की तनातनी झगड़े का कारण बनती है और एक दिन वही घर बहू के लिए दुःख का, कष्ट का आगार बन जाता है। क्या इन बातों को दूर करने का कोई उपाय नहीं है। हमारे परिवारों को बेतरह झुलसनेवाली यह आग बुझानी ही होगी और शीघ्र बुझानी होगी।

अब तो आप आही रहे हैं, आप जो आज्ञा देंगे, वह मैं करूँगी। मेरे कार्यों के सम्बन्ध में काफी आलोचना हो चुकी है। पर अब सहसा वह आलोचना बन्द हो गयी है। आज कल मेरे कार्यों के बारे में तो कुछ कहा नहीं जाता, हाँ, मेरी तारीफ़ की जाती है और अक्सर वह तारीफ़ मैं सुना करती हूं।

हाँ, भैया की चिट्ठी आई थी। भाभी की आज्ञा से उन्हों- ने वह पत्र लिखा था। भाभी चित्रकूट आगरा और मथुरा जानेवाली हैं और वहाँ वे मुझे ज़रूर ले जाना चाहती हैं। मैं भला वहां कैसे जा सकती हूं। इतने दिनों के बाद आप

आते हैं। मैं तो अपने जीवन के इन मनोहर दिनों को चित्र-कूट के पहाड़ों में भटक कर नष्ट करना नहीं चाहती। मैंने भैया को और भाभी को अलग अलग पत्र लिख दिये हैं और उन लोगों को यहीं बुलाया है।

आनेवाले हैं यही समझ कर शायद आप पत्र भेजने में विलम्ब कर रहे हैं। पर आने में तो अभी विलम्ब है, अभी कई दिन बाकी हैं। फिर इन दिनों में आपके पत्र पढ़ने से मैं वंचित क्यों रहूं।

आपकी

... ... भा
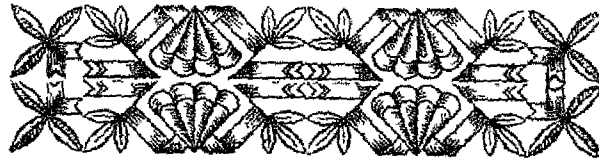
(७)

नाथ,

जाग्रत देवता के चरणों में कोई श्रद्धासहित प्रार्थना करे और वह विफल होजाय, यह कभी हो ही नहीं सकता। आपका पत्र मुझे आज मिला है। आज के पाँचवें दिन आप यहाँ आजायँगे। मेरा यह पत्र तो कल ही आपको मिल जायगा। इसीलिए लिखती हूं। एक और बात है। आप यह न समझिएगा कि मैं अहङ्कार से लिख रही हूं अथवा आप वैसा समझें भी तो इसमें मेरे लिए कोई लज्जा की बात नहीं है; क्योंकि वह अहङ्कार, वह गर्व मेरे सौभाग्य का गर्व होगा और उसे प्रकाशित करते मैं भयभीत नहीं होती। मेरी समझ से स्त्री-जीवन की यही तो सार्थकता है। अच्छा तो सुनिए— मैं समझती हूं कि मेरे पत्र भी आपको वैसे ही प्रिय होंगे जैसे कि आपके पत्र मुझे। जिस तरह आपके पत्रों की प्रतीक्षा मैं किया करती हूं, वैसे ही आप भी मेरे पत्रों की प्रतीक्षा किया करते होंगे। अतएव मैं आपके

पत्र पाने के लिए जितनी उत्सुक रहा करती हूं, आपको पत्र लिखने के लिए उससे कम उत्सुक नहीं रहती।

ऊपर का वाक्य लिखना जिस समय मैंने ख़तम किया, उसी समय मेरे हृदय के नेत्रों ने आपकी मुस्कुराती मूर्ति का दर्शन किया। मैंने लिखना बन्द कर दिया। शायद बन्द हो कर दिया। क्यों बन्द कर दिया, बतला नहीं सकती। कोई काम न था, काम किया भी नहीं। फिर प्रश्न होता है कि मैंने लिखना बन्द क्यों कर दिया। उत्तर मेरे पास नहीं है। समझिए शायद बन्द ही होगया। थोड़ी देर तक मैं वैसी ही बैठी रही। पलकें झंप गयीं। भगवान् का दर्शन मैंने नहीं किया है। सुनती हूँ उनके दर्शन से अद्भुत आनन्द आता है। मनुष्य, शरीर की सुध भूल जाता है। इस संसार में रह कर भी, वह उस समय के लिए संसार से अलग हो जाता है। मेरी भी वैसी ही अवस्था हो गयी थी। वह मूर्ति कई मिनटों तक मेरे सामने रही, उस समय मेरे मन की कैसी अवस्था रही, यह कैसे बतलाऊँ, शब्द कहां पाऊँ। अगर कुछ कह सकती हूं, तो वेदान्तियों की भाषा में उसे अनिर्वचनीय कह सकती हूं, पर अनिर्वचनीय का तो अर्थ है न कहने योग्य। यह तो कुछ कहना हुआ नहीं। यह तो जी चुराना हुआ।

ऐसा कहकर तो कोई अपना अभिप्राय प्रकाशित नहीं कर सकता। मैं भी नहीं कर सकती।

थोड़ी देर बाद वह मूर्ति मन ही में लीन होगयी। ढूंढा, मिली नहीं, अधिक ढूँढ़ने का प्रयत्न भी न कर सकी। बल ही नहीं था, इन्द्रियों पर अधिकार ही नहीं था। यों ही बैठी रही, चित्त प्रसन्न था। आत्म-तृप्ति थी। अन्धा आँखें पाने पर जिस प्रकार दुनियां से नयी जानकारी प्राप्त करता है, एक एक वस्तु का ज्ञान वह बड़े प्रेम, उत्साह और सावधानी से अपने हृदय में रखता है। कौन कल्पना कर सकता है, उस समय के उसके आनन्द की ? मेरा आनन्द भी कल्पना के परे था।

थोड़ी देर के बाद मेरे मन में एक बात आयी। मैंने सोचा कि जब मेरा पत्र आपको मिलेगा और आप जब वह अंश पढ़ेंगे, तब आप मुसकुरायेंगे। यह विचार आया और पक्का होगया। मेरे मन ने कह दिया—ज़रूर आप हँसेंगे। अच्छा, बतलाइए क्यों हँसेंगे, क्या मैं झूठ कह रही हूँ, अथवा आपके मन की सच्ची बात मैंने बतलादी इसकी प्रसन्नता से, कहिए बात क्या है ? अच्छा, आकर ही बतला दीजिएगा। अथवा मैं इस बात के लिए आग्रह ही क्यों करूँ। यदि आपने आकर कह दिया कि मैं हँसा ही

नहीं, तब मैं क्या करूँगी, या आपने ऐसा कोई कारण बतला दिया, जिससे मेरी यह आनन्द की अटारी नष्ट हो जाय, तो मैं क्या करूँगी। अच्छा, देखा जायगा, इस समय तो कुछ निर्णय होता नहीं।

आपने मेरे सम्बन्ध की बातें पूछी हैं, मेरा काम कैसा चल रहा है, मैं क्या करती हूं। इच्छा तो नहीं थी बतलाने की, पर आपने जब पूछा है, तब छिपाऊँ कैसे। अच्छा सुनिए।

दो पहर के बाद प्रतिदिन दो तीन घंटे चर्खा चलाया करती हूँ। जिस दिन मैंने चर्खा मँगवाया, उस दिन इसकी बड़ी चर्चा रही। मुहल्लेवालों ने भी कई तरह की बातें कहीं, काना-फूंसी की। अम्मा और फूआजी तो ऐसी डरीं, जैसे कोई बमगोला से रासायनिक परीक्षक। फूआजी ने तो ले आनेवाले से लौटा ले जाने के लिए कहा। वह विचारा खड़ा ताकने लगा। बड़ा डर गया था। ओह, क्या बतलाऊँ कि उस समय उसकी कैसी अवस्था होगयी थी। उसे देखकर हँसी भी आती थी और दुःख भी होता था। उसका चुप रहना मुझे बहुत अखरता था। उसने चोरी तो की नहीं थी, फिर चुप क्यों था। इतनी फटकार क्यों सहता था, उसे साफ़ कहना चाहिए था कि मैं अपने मन से नहीं ले

आया हूँ, मँगवाने से ले आया हूँ। मालूम होता था जैसे उसके मुँह में ज़बान हो न हो। मैंने चर्खा रखकर उससे जाने के लिए कहवाया। वह चला गया। फूआजी बोलीं—बहू यह चर्खा तू ने मँगवाया है? मैंने कहा—जी हाँ। इतना सुनते ही उन्होंने सिर पीट लिया। मुझसे उन्होंने कुछ नहीं कहा और मैं भी उनकी बात सुनने के लिए खड़ी नहीं रही। चर्खा उठाकर मैं अपने घर में चली गयी। पर फूआजी बोलती रहीं। मैंने इतना सुना "यह कुलच्छन कहाँ से हमारे घर में आया। भले घर की बहू बेटियाँ क्या कहीं चर्खा काता करती हैं? इस बहू को न मालूम क्या हो गया है, क्या करने-वाली है राम"! उनकी बातें सुनकर मुझे बड़ी हँसी आयी, दुःख भी हुआ। कैसे दुर्भेद्य अन्धकार के झपेटे में हम लोग आगयी हैं।

उस समय तो मैं चुप होरही। फूआजी को भी बड़ा काम था। उसी दिन पांचसौ मन चावल बिका था। फुआजी उसी के निकलवाने में लगी थीं। सन्ध्या-समय वे थक सी गयी थीं। उस समय वे शान्त सी हो गयी थीं। मैं जाकर उनको अपने कमरे में ले आयी और पैर दबाने लगी। पहले तो वे कुछ अनमनी सी रहीं। ऊँह आँह करती रहीं, कई

बार छोड़ देने के लिए भी उन्होंने कहा । पर मैं तो उनकी भीतरी इच्छा जानती थी । मैं भी तो स्त्री हूँ । स्त्री के मन की बात स्त्री ही जान सकती है । स्त्रियाँ प्रायः अपने मन की बात छिपाया करती हैं । वे बड़े सङ्कोची स्वभाव की होती हैं । अपने से वे अपने मन की बात खुलकर नहीं कह सकतीं, कहती भी नहीं । उनका स्वभाव ही ऐसा होता है । कई अव-सर आते हैं कि उनको किसी बात की चाह रहती है । वे चाहती हैं कि यह काम हो, पर स्वयं कह नहीं सकतीं, किसीके पूछने पर भी नहीं । और तो और, साधारण भोजन वस्त्र के सम्बन्ध में भी उनके इस स्वभाव का पता लगता है । फूआजी थकी थीं । थके आदमी को विश्राम की ज़रूरत होती है, सेवा की ज़रूरत होती है । वही मैं कर रही थी । बिछौने पर उन्हें लिटा दिया था और उनके पैर दबा रही थी । इसमें इन्कार करने की क्या बात थी । मैं तो उनकी कोई दूसरी नहीं थी । बड़ी बूढ़ी स्त्रियों को अपनी बहुओं से सेवा लेने का अधिकार समझा जाता है । अपने अधिकार का तो सभी को उपभोग करना चाहिए । सभी उपभोग करते भी हैं । फिर फूआजी को इन्कार क्यों करना चाहिये ? पर उन्होंने इनकार किया । इसका कारण स्त्री-स्वभाव है । मैं ऐसा ही समझती हूँ और यही समझकर मैं उनके पैर दबाती ही रही । उनके रोकने पर भी रुकी नहीं । फिर वे चुप होगयीं ।

ऐसे ही अवसर होते हैं, जब स्त्रियाँ आपस में लड़ पड़ती हैं। सास-जेठानी आदि ने स्त्री-स्वभाव के कारण कोई काम करने से इन्कार किया। छोटी बहू ने समझ लिया कि ये क्रोध से ऐसा करती हैं। एक दो बार वह अपनी बड़ी बूढ़ी स्त्रियों की सेवा के लिए जाती है। हमारे परिवार की बड़ी कही जानेवाली स्त्रियाँ, किसी दूसरे के स्वभाव की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देतीं। हमारे व्यवहार का असर हमारी बहुओं बेटियों पर क्या पड़ता है, इस बात का वे विचार करना आवश्यक ही नहीं समझतीं। उनकी जो समझ है सो है, उसमें फेरफार नहीं हो सकता। बहू चाहे, तो उनके स्वभाव के अनुकूल अपना स्वभाव बना ले। न बना सके तो उसकी निन्दा होगी। अतएव हम लोगों के लिए स्वभाव का ज्ञान आवश्यक है। जिन बहुओं को स्वभाव का ज्ञान नहीं है, उन्हें बड़े बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। दिन दिन भर काम में परेशान रहने पर भी निन्दित होना पड़ता है। तरह तरह के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

आखिर वे भी कब तक सहें। सहने की भी सीमा होती है। मनुष्य तो असीम नहीं है। इसकी शक्तियाँ तो असीम नहीं हैं। फिर इसकी धीरता ही असीम कैसे हो सकती है। बार बार की इन्कारी सुनकर वे भी क्रोधित हो जाती हैं। समझ लेती हैं कि मेरा अपमान होता है, जाना बन्द कर

देती हैं। सास समझती हैं कि वह अब मेरी सेवा भी नहीं करती। मुझे पूछती भी नहीं। यहीं से तनातनी शुरू हो जाती है। दोनों की मूर्खता का, नासमझी का परिणाम दोनों ही को भोगना पड़ता है। भाग्य की बात है कि मुझमें यह दोष नहीं है। मैं स्वभाव से परिचित हूँ, इसीसे मुझे इनके साथ वर्ताव करने में कठिनाई उठानी नहीं पड़ी है, आज भी नहीं पड़ी। अच्छा तो सुनिए, असली बात सुनाऊँ। थोड़ी देर तक पैर दबाने के बाद फूआजी ख़ुश हो गईं। मेरे लिए गहने बनवा देने की प्रतिज्ञा करने लगीं। उन्होंने कहा कि मैंने जो कुछ बटोर रखा है, वह सब तुम्हीं लोगों के लिए है। कुंआ बनवाना चाहती थी, भैया से कहा था तो उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारे नाम से बनवा दूँगा। फिर हमारे रुपये किसमें ख़र्च होंगे। तुम्हीं लोग बाँट लेना।

मैंने कहा—फूआजी, गहने तो बहुत हैं। जो हैं उन्हें ही मैं कहाँ पहनती हूँ। और बनेंगे तो रखे ही न रहेंगे। आप अगर रुपए दें, तो मैं ख़र्च कर दूँ। किस काम में ख़र्चूंगी, उन के पूछने पर मैंने कहा—बहुत से ग़रीब हैं, उनके खाने का ठिकाना नहीं है। उन्हीं को दूँगी। किसी को भैंस ख़रीदने के लिए, किसी को कुछ और रोज़गार करने के लिए मैं देना चाहती हूँ। मेरे पास रुपए हैं, पर कम हैं। आप देंगी तो सब मिलाकर कुछ हो जायगा। फूआजी चुप होगयीं। थोड़ी

देर तक मेरी ओर वे देखती रहीं। मैं समझ न सकी कि वे क्या सोच रही हैं। मैंने सोचा कि कहीं बात बिगड़ न जाय। वे मेरे विरोध में कुछ सोच न लें। इसीलिए मैंने उसी सिलसिले में बात का पलट देना ही उचित समझा। मैंने पूछा—अच्छा, फूआजी, हम लोगों के पास तो इतने रुपये हैं, हम लोग खूब खर्च करती हैं, घर के मर्द भी खर्चते हैं। कितना गहना है, कई ट्रंक कपड़े हैं। बहुत से बिछौने हैं। पर कई लोग हैं, जिनके पास कुछ भी नहीं है। उन्हें न खाने को अन्न मिलता है, न पहनने को वस्त्र। ऐसा क्यों होता है?

फूआजी ने कहा—अपनी अपनी कमाई है। बहू, जिसने जैसा किया है, उसको वैसा ही मिलता है। तुम लोगों ने अच्छे काम किये हैं, इससे सुख मिलता है और उन लोगों ने बुरे काम किये हैं, इससे उनको दुख मिलता है। जो जैसा करता है, उसको वैसा ही भोगना पड़ता है।

मैंने कहा—यह तो पूर्वजन्म की कमाई होगी फूआजी, इस जन्म की तो नहीं न? फिर तो हम लोगों को इस जन्म में भी और अच्छे अच्छे काम करने चाहिए, जिससे आगे के जन्म में और भी अधिक सुख मिले।

फूआजी ने कहा—सो तो होना ही चाहिए। होता भी तो है। साल में कई बार ब्राह्मण-भोजन होता है। बैजनाथ-जी काशीजी और बिन्ध्याचली महारानी के यहाँ एक एक

ब्राह्मण तुम्हारी ओर से रहते हैं। वे पूजा किया करते हैं। उन तीनों के लिए सौ रुपये माहवार ख़र्च होता है। यही सब अच्छा काम है।

मैंने कहा—जो लोग भूखे हैं, जिन्हें अन्न वस्त्र नहीं है, जो रोगी हैं, उन्हें अन्न वस्त्र देना, दवा देनी, पथ्य के लिए पैसे देना भी तो अच्छा काम है। जिसे सहायता की ज़रूरत है, उसकी सहायता करनी तो और अच्छा काम है। कई ब्राह्मण तो ऐसे हैं, जिन्हें सहायता की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। वे बिलकुल ख़ुशहाल हैं। उन्हें देना न देना दोनों ही बराबर हैं। पर दूसरी जाति के कई ऐसे हैं जिन्हें सहायता की बड़ी ज़रूरत है। उन्हें अन्न वस्त्र मिलना ही चाहिए। न मिलने से उन्हें बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। उनमें तो बहुत से इतने असहाय हैं कि यदि उन्हें सहायता न मिले, तो बिचारों को अन्न के बिना, दवा के बिना बिलख बिलख कर प्राण देने पड़ें। मेरी समझ से तो ऐसे आदमियों को अन्न देना और भी अधिक धर्म है। यह तो सबसे अच्छा काम है। क्यों फूआजी, आप क्या कहती हैं?

फूआजी ने कहा—बहू, तुममें बड़ी दया है। हम लोग तो ब्राह्मण ही को देना अच्छा समझती हैं। पर तुम्हारा कहना भी बुरा नहीं है। जिसे ज़रूरत हो, उसे ही तो मिलना चाहिए। जो भूखा है, उसे जब अन्न मिलेगा, तो उसकी

काया में और अधिक सुख पहुँचेगा। वह और सुखी होगा। अतएव उसको देना, पैसों की सहायता पहुँचाना बड़ा ही अच्छा है। अच्छा, बहू, तुझे कितने रुपये चाहिए ?

मैंने कहा—जो दे दीजिए। यह तो पुण्य का काम है। जो आप देंगी, वह सब मैं ख़र्च कर दूंगी। ख़र्च करने से जो बच जायगा, वह मेरेही पास तो रहेगा। मगर फूआजी, जिस काम में मैं रुपया लगाना चाहती हूँ उसके लिए बहुत सी ज़रूरत है, आप जितना भी देंगी, सब ख़र्च हो जायगा।

तब फूआजी ने कल सौ रुपये देने को कहा। मैं बहुत ख़ुश हुई। इसलिए नहीं कि मुझे सौ रुपये मिल गये। रुपये तो मुझे मिल ही ज़ाते हैं। जब जितने की ज़रूरत होती है, उसी समय उतने मिल जाते हैं। मैं ख़ुश हुई इसलिए कि ये बूढ़ी फूआजी भी मेरे काम से सहानुभूति रखने लगीं। उन्होंने तो सौ रुपये दिये, यदि वे पाँच देतीं, तो भी मैं उतनी ही ख़ुश होती। जो एक दल को आदमी ही न समझता हो, उसे उसके दुःख सुख की चिन्ता ही न होती हो, उसी के मन में उसके दुःख दूर करने का विचार आजाय, तो क्या यह कम है ? मैं तो इसे अपनी विजय समझती हूँ। अब फूआजी तो कोई बाधा खड़ी न करेंगी। उनकी सहायता के नाम पर मैं अम्माजी से भी सहायता ले सकूंगी, उनकी भी सहानुभूति पासकूंगी। मेरा काम जो अवैध समझा जाता है,

नाजायज़ क़रार दिया जाता है, वह वैध तो हो जायगा, वह जायज़ तो करार दिया जायगा। कहिए—क्या यह कम लाभ है, छोटी विजय है?

भाभी के यहाँ से पत्र आया है। डाक में नहीं, आदमी लेकर आया है। बहुत लम्बा चौड़ा पत्र है। वे तुली हैं हमको लेजाने के लिए। वे चित्रकूट जायँगी। उनके साथ भैया जायँगे। उन्होंने मेरे लिए लिखा है कि तुम भी चलो और अपने साथ जीजाजी को भी लेती चलो। वे लिखती हैं कि इस यात्रा में स्त्रियों की ही प्रधानता रहेगी, पुरुषों की नहीं। यात्रा करेंगी स्त्रियाँ और पुरुष उनके साथ चलेंगे। पुरुषों के ज़िम्मे सदा से जो काम रहा है वही रहेगा और स्त्रियाँ भी वही, अपना पुराना काम करेंगी। पुरुष बाज़ार से चीज़ें ख़रीद लावेंगे, कूएँ से जल भर लावेंगे। लकड़ी ख़रीद कर या बटोर कर लावेंगे और स्त्रियाँ रसोई बनावेंगी। पुरुषों को खिलावेंगी और उनके खा लेने पर स्वयं खायँगी। यही कार्यक्रम उन्होंने बतलाया है। चित्रकूट से वे मथुरा जायँगी। मथुरा वृन्दावन से आगरा होती हुई, अपने घर आवेंगी। वहाँ ही हम लोगों को भी चलना होगा। घर पहुँचने पर स्त्रियों का प्राधान्य समाप्त हो जायगा और पुरुषों का प्राधान्य चलेगा। अतएव भाभीजी की आज्ञा से नहीं, उनकी प्रार्थना से आपको उनके यहाँ दो दिन ठहरना

पड़ेगा। इसी बीच में हमारे मामाजी आवेंगे। उन्हींको प्रणाम करने के लिए हमको और आपको ठहरना होगा, भाभीजी के निवेदन से। उनको प्रार्थना से मामाजी ने बहुत दिनों से सन्यास ले लिया है। उनका पता ही न था। बहुत दिनों के बाद उन्होंने मेरे पिताजी को पत्र लिखा है और लिखा है कि अगर हो सके तो पिताजी अपने समस्त परिवार को एकत्र कर रखें। यही भाभीजी के पत्र का सारांश है। उसमें यही काम की बात है। और जो न मालूम उन्होंने क्या क्या लिखा है। उसे जानकर आप क्या करेंगे। मेरे जानने की भी तो वे बातें न थीं, क्योंकि वे बातें तो उन्होंने कई बार कहीं हैं। शायद आपने भी सुनी होंगी। वे न भी लिखी जातीं, तो कोई हानि न थी। पर उन्हें अवकाश बहुत रहता है। लिखने में भी तेज़ हैं। लिखने बैठती हैं, लिख डालती हैं। इसी कारण वे बातें मैं आपको नहीं लिखती। यदि आप भी उन बातों को जानना चाहें, तो बात ही क्या है, ५, ६ दिनों में आप आनेवाले हैं ही, उनका पत्र ही पढ़ लीजिएगा।

भाभी की चिट्ठी ने पशोपेश में डाल दिया है। देखती हूँ वे मानेंगी नहीं। वे आवेंगी, हमको और आपको लेने के लिए। आप उनकी ज़िद तो जानते ही हैं। वह इतनी कोमल होती है कि बुरी भी नहीं मालूम होती। भाभी अपनी ज़िद

नहीं छोड़ती। जो चाहती हैं, करवा कर छोड़ती हैं। चाहे कोई कुछ सोचे विचारे, पर होगा भाभी ही के मन का। इसी-लिए कहती हूं कि क्या किया जायगा। मेरी अकिल तो काम नहीं देती। आपही कुछ सोच विचार रखें।

मैं अच्छी हूं। सब लोग अच्छे हैं। मैं तथा आपका समस्त परिवार आपके आने के दिन की प्रतीक्षा करते हैं।

उत्सुका

……भा,

(८)

नाथ,

यह बिलकुल सच है कि मनुष्य केवल सोच सकता है। अपने सोचे विषय को कार्य का रूप देना उसके अधिकार की बात नहीं है। क्या मनुष्य जो सोचता है, वह होता ही है? लोग तो कितना सोचते हैं, पर क्या वे सभी सिद्ध भी होते हैं? कई मनुष्य तो ऐसे भी हैं, जिनका सोचा हुआ कुछ भी नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कुछ और हुआ कुछ। मन तो सभी के है न? उसका काम है सोचना, मनसूबे बाँधना। वह थकता भी नहीं। काफ़ी समय है और असीम बल। सदा सोचा ही करता है। उसकी दौड़ बेजोड़ हुआ करती है। इसी कारण बहुत से समझदार सोचते ही नहीं। वे कहते हैं कि जब मेरा सोचा होने ही वाला नहीं है, फिर बेकार सोचने की तकलीफ़ क्यों उठावें? अपनी अपनी समझ है। उन्हें बुरा कैसे कहा जा सकता है। पर हम लोगों से सोचना छूट नहीं सकता। यह ठीक है कि सोची हुई बातें नहीं

होतीं। पर बहुत सी सोची बातें हो भी जाती हैं। उस समय आनन्द भी ख़ूब होता है। सोची हुई एक बात के विफल होने से जो दुःख होता है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक आनन्द उस समय होता है जब मनुष्य की कोई सोची बात हो जाती है। सुख के लिए तो दुःख उठाना ही पड़ता है। ऐसा तो कोई तरीक़ा नहीं है, जिससे बिना दुख उठाये सुख मिल जाय। इसी सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने एक बात कही थी। बात बड़ी अच्छी थी। आप भी तो जानते होंगे, पर प्रसङ्गवश मैं भी लिख देती हूँ। बम्बई में "प्रिन्स ऑफ़ वेल्स" आनेवाले थे। देश ने उनके स्वागत न करने का विचार दृढ़ किया था। राज-पक्ष चाहता था कि उनका स्वागत हो, इसी कारण तनातनी थी, राजपक्ष स्वागत करवाने पर तुला हुआ था और प्रजापक्ष स्वागत न करने पर। ऐसे अवसरों पर दङ्गा फ़िसाद हो जाना कुछ असम्भव नहीं है। पर राष्ट्र-नेता शान्ति बनाये रखना चाहते थे। गांधीजी आगेवान थे। स्वागत न करने के और शान्ति रखने के भी। अतएव उस समय वे बम्बई में जनता की बहुत बड़ी सभा में व्याख्यान दे रहे थे। वहीं उन्हें ख़बर लगी कि दङ्गा हो गया। उस समय महात्मा जी ने कहा—"एक विचार आंख के सामने होता है और एक होता है पीठ के पीछे। वे भाग्यवान् हैं, जिनके आँख के सामनेवाले विचार कार्यरूप में प्रत्यक्ष होते हैं। पर

अनेक समय आँख के सामने के विचार, विचार ही रहते हैं और पीठ पीछे के विचार कार्य का रूप धर कर सामने आ जाते हैं।" उनके शब्द ये हैं कि नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकती, पर अर्थ यही था, इसमें सन्देह नहीं। महात्माजी की यह उक्ति भाग्य या अदृष्ट नाम के किसी पदार्थ की सत्ता स्वीकार करती है। मेरी समझ से महात्माजी के कहने का तो यही अर्थ मालूम होता है कि मनुष्य के विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिए बाहरी सहायता की आवश्यकता है। वह सहायता प्रत्यक्ष भी हो सकती है, अतीत भी। जिस विचार को ऐसी सहायता मिलती है, वह विचार सिद्ध होजाता है, उसे कार्य का रूप मिल जाता है और जिसे ऐसी सहायता नहीं मिलती, वह योंही रह जाता है। वह केवल विचार ही रहता है, उसे कार्य का रूप नहीं मिलता।

मालूम होता है इसी अदृष्ट सहायता के अभाव से हम लोगों के विचार भी कार्यरूप में परिणत न हो सके। मैंने सोचा था कि आप आवेंगे, तो कुछ दिनों तक आपकी सेवा का मैं सुख लूटूँगी। आपके उपदेश सुनूँगी, आगे के लिए जो मैंने अपना कार्यक्रम बना रखा है, उसमें आप की सलाह लूँगी। भाभी ने सोचा था कि वे हम दोनों को लेकर यात्रा करेंगी। वन-भोजन और वन-भ्रमण का आनन्द लेंगी। बाबू-

जी, भैयाजी ने भी आपके सम्बन्ध में कुछ सोचा ही होगा। आपके मित्रों ने भी कुछ सोचा ही होगा। मैं नहीं जानती, आपने कुछ सोचा था कि नहीं और सोचा था तो क्या, पर मैं इतना अवश्य जानती हूं कि आपने भी कुछ सोचा ही होगा, क्योंकि सोचना मनुष्य-स्वभाव है। सभी समझदार मनुष्य सोचा करते हैं, वह चाहे सार्थक हो या अनर्थक। पर हुआ तो कुछ भी नहीं। सभी के विचार विचार ही रह गये। आप आये और दूसरे ही दिन सेवा-समिति के मन्त्री का पत्र पाकर मिरज़ापुर चलेगये। आप लिखतेहैं कि तुम्हें कष्ट हुआ होगा। मैं सत्य से इन्कार कैसे करूँ। कष्ट तो हुआ ही, दो दिनों तक मैं व्याकुल रही। मालूम ही नहीं होता था कि मैं क्या करूँ। एक बार विचार हुआ कि भाभी के ही पास चली जाऊँ। पर मालूम हुआ कि आपके उधर चले जाने से उन्होंने भी अपनी यात्रा रोक दी है। देवता, मैं निश्चित नहीं कर सकी थी कि क्या करूँ। घरवाले भी उदास ही थे। आपकी यह यात्रा किसीको रुची नहीं। आज साढ़े तीन ही बजे नींद खुल गयी। चिराग़ जलाया। उसकी ओर पीठ करके मैं बैठ गयी। सोचने लगी कि मुझे दुःख क्यों है। मेरा क्या नष्ट हुआ है, मेरी क्या बुराई हुई है जिससे मुझे कष्ट हो रहा है। पर नष्ट तो कुछ भी नहीं हुआ है, बुराई भी कुछ नहीं हुई है। सभी तो भले चंगे हैं। फिर दुःख काहे

का। हां, एक विचार किया था, वह योंही धरा रह गया। उसके अनुसार कार्य नहीं हो सका। बहुत छानबीन करनेपर मालूम हुआ कि भाभी का प्रस्ताव मुझे भी रुचिकर मालूम हुआ था। मैं भी वैसा ही करना चाहती थी, जैसी भाभी की इच्छा थी। पर वह तो शौक़ का काम था। अपने आनन्द का एक नुसख़ा था। आप तो उससे भी आवश्यक काम के लिए गये हैं। सेवा समिति के मन्त्री ने आपको इसलिए बुलाया है। कि मिरज़ापुर ज़िला में हैजा का प्रकोप है, वहां जनता दवा और पथ्य के बिना मर रही है, आप आकर वहां का प्रबन्ध करें। यह तो बहुत उत्तम काम है, आवश्यक भी। हम लोगों का कार्यक्रम तो शौक़ का था और यह तो कर्तव्य पालन का सुअवसर है। मालिक, इस विचार ने मुझे पुलकित कर दिया, मैं आनन्दित हो गयी, आप ही आप बिना समझे बूझे, हँसी आ गयी। मैं स्वयं अपनी ही नज़रों में एक प्रतिष्ठित स्त्री मालूम पड़ने लगी। पहले की अपनी दुःखितावस्था स्मरण करने से शरम भी आयी। पर वह थोड़ी ही देर के लिए। मैंने सोचा कि मैं कैसी भाग्यवती स्त्री हूं कि मेरे पति की जनता को आवश्यकता है। मेरा पति कैसा महान् है, जो मुझसे तथा अपने सब सुखों की ओर से, जनता की सेवा के लिए रोगियों की सेवा सुश्रूषा के लिए आँखे फेर सकता है। देवता, मैं कैसे बतलाऊँ कि उस समय मेरी कैसी

अवस्था हो गयी थी। मुझे मालूम ही न हुआ कि कबतक इन विचारों में मैं विभोर रही और कब सो गयी। प्रातः-काल सूर्योदय हो जाने पर जब नौकरानी ने उठाया, तब उठी।

इस समय दोपहर हो गये हैं। घर के सब लोगो ने भोजन कर लिया है। मैं पत्र लिख रही हूं। इसी पत्र के साथ चार सौ रुपये भी भेजती हूं। इसमें सौ रुपये तो फूआजी के हैं और तीन सौ मेरे। इन रुपयों को आप अपने नाम से सेवा-समिति को दे दें और कह दें कि ये रुपये रोगियों की दवा तथा पथ्य में ख़र्च किये जांय। भाभी को भी रुपये भेजने का पत्र लिख दिया है। उनके पत्र में भैया से भी कोई बड़ी रक़म लेकर भेजने को लिखा है। शायद वे कुछ अधिक भेजें। हां, एक बात और, मदारी की दुलहिन से मैंने ये सब बातें बतलायी थीं। आज ही कुछ देर पहले वह आयी थी। वह घर जाकर चार रुपये बारह आने ले आयी। उसने कहा—"बहूजी, ये रुपये हम लोगों की ओर से भेज दीजिए। इनसे तो उनको क्या होगा। पर मेरी इच्छा है कि दूँ। ग़रीब, ग़रीब की सहायता न करेगा तो कौन करेगा? आज उन पर दुःख पड़ा है, कल हम पर पड़ेगा। आज हम उनको देखेंगे, तो कल वे हमें देखेंगे। बहूजी, बुरा न मानना।

कितने बड़े आदमी आप लोगों के ऐसे हैं । एक हमारे बाबू हैं । वे तो देवता हैं । कभी बाढ़-दुखियों के लिए अन्नवस्त्र जुटाते फिरते हैं और कभी रोगियों की सेवा करते फिरते हैं । उनके काम तो नौकर करें और वे स्वयं दीनों की, भूखों की सेवा करते फिरें । कितने हैं ऐसे, उन्हें कमी किस बात की है । भगवान् ने सब तो दिया है । चाहें घर बैठे दस को खिलाकर खांय । भाग्य तो देखो, बहू मिली है इन्द्र की अप्सरा, पर अपने काम के सामने उसकी ओर भी नहीं देखते । बहू, मैं ग़रीब हूं, इसीसे कुछ भेजना चाहती हूँ । आप इन रुपयों को अवश्य भेज दें । तीन चार आदमियों ने मिल कर ये रुपये दिये हैं"। इन रुपयों का मूल्य मेरी दृष्टि में बहुत अधिक है । ये रुपये वहां से आये हैं, जिन लोगों को इनकी आवश्यकता थी । जिन लोगों को इन रुपयों के बिना कष्ट हो सकता है। जिन लोगों ने अपना एक काम रोक कर ये रुपये एक दूसरे काम के लिए दिये हैं । आप ही ने न बतलाया था कि दान का मूल्य उस की संख्या पर नहीं है, किन्तु नियत पर है, सामर्थ्य पर है । जिसको हज़ारों माहवार की आमदनी है, वह यदि सौ पचास दान कर दे, तो यह कोई बड़ी बात नहीं है, पर एक ग़रीब आदमी जो दस की आमदनी में अपने परिवार का पालन करता है, एक रुपया देता है, तो वह अधिक देता है । क्योंकि

एक के निकल जाने से उसका एक काम रुक जा सकता है और रुकता है। पर हज़ारों की आमदनीवाले का कुछ नुक़सान नहीं होता। उसका कोई काम नहीं रुकता। इसीसे कहती हूँ कि मदारी की दुलहिन के लाये इन चार रुपये बारह आने को मैं बहुत अधिक समझती हूँ। ये आपस में सहायता करने की आदत तो सीखें। ग़रीब, ग़रीब को आदमी समझना तो सीखें। देखिए तो अभाग्य, धनी तो ग़रीबों को हीन समझते ही हैं, ग़रीब भी उन्हें हेय समझते हैं। इस कारण ग़रीबों को कहीं से भी सहायता नहीं मिलती। धनी तो उन्हें पूछेंहीगे क्यों, और ग़रीब भी उन्हें ग़रीब समझ कर उनकी ओर से मुंह मोड़ लेते हैं। इससे उनका कष्ट और बढ़ जाता है। आप लोगों के प्रयत्न से ग़रीब भी अब ग़रीबों को आदमी समझने लगे हैं, यह ख़ुशी की बात है।

अच्छा मदारी की दुलहिन के चार रुपये बारह आने मैं अपने पास रख लेती हूं, आप सेवा-समित वालों को इतने रुपये दे दें और मदारी के नाम से जमा कर लेने को कह दें।

नाथ, एक प्रार्थना है। मैं आपके इस काम में किस तरह सहायता कर सकती हूं इस बात का उपदेश दें। जो बात समझ में आयी, वह तो मैंने की, पर तृप्ति नहीं हुई। अतएव आज्ञा के लिए निवेदन है।

आप जिस काम के लिए गये हैं, वह काम करें। वहाँ से सफल होकर आवें। अपने भाइयों को, अपनी बहिनों को सुखी करके आवें। मैं भी आपके विजयी चरणों का दर्शन करके अपने को धन्य समझूंगी।

अब अधिक लिखना नहीं चाहती। आप जिस काम के लिए गये हैं, वह मेरे पत्र पढ़ने से अधिक आवश्यक है, अधिक महान् है, अतएव लम्बा पत्र पढ़ने का कष्ट मैं देना नहीं चाहती।

आपकी

......मा

(६)
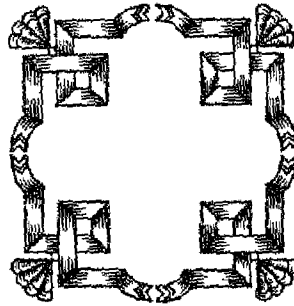
कृपानाथ,

एक कार्ड आज ही मिला। इसे मैं बहुत बड़ी कृपा समझती हूँ। इस समय भी आपको मेरी याद तो बनी है। रोग का प्रकोप कम होरहा है, यह जानकर आनन्द हुआ। आपने लिखा है कि मरनेवालों की संख्या कम हो रही है। अब अधिकांश रोगी भी उठते हैं, नये बीमार भी कम पड़ते हैं। भगवान् आप लोगों को सफलता दे। दीनबन्धु दीनों की रक्षा करें और अपने भक्तों को सुयश दें।

कल भाभी का एक पत्र मिला है। उन्होंने लिखा है कि नौ सौ तीस रुपये मिरज़ापुर के पते पर सेवासमिति के लिए जीजाजी के पास भेजे हैं। उन्होंने लिखा है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी इससे अधिक जुटा न सकी। मैं तो उसे ही अधिक समझती हूँ। मुझसे तो अधिक अवश्य है। पर मैंने जो चार रुपये बारह आने भेजे हैं, उनके बराबर वे नौ सौ भी नहीं हैं। भाभी एक धनी आदमी

हैं। उनका पति बहुत कमाता है। वे एक तरह से घर की मालिकिन भी हैं। अतएव उनके लिए नौ सौ रुपये कुछ भी नहीं हैं। इस पर भी रुपये अकेले उन्होंने ही नहीं भेजे हैं। और नहीं तो भैया का तो साझा होगा ही। आश्चर्य नहीं कि घर के अन्य लोगों ने भी इस में साथ दिया हो। ख़ैर।

आपने अपने कार्ड में एक बात लिखी है जिसे पढ़ते ही आग सी लग जाती है। ख़ून खौलने लगता है। आपने लिखा है "इन लोगों के पास बिछौने नहीं हैं, ओढ़ने भी नहीं। हैज़े के मल से सने कपड़े ये जलाने नहीं देते। घर के और लोगों को जिसमें बीमारी न हो, उसके लिए डाक्टर ने रोगी के कपड़े जला देने की सम्मति दी है। पर ये उसे जलाना नहीं चाहते। जलावेंगे तो ओढ़ेंगे क्या? दूसरा ओढ़ना कहां से आवेगा, कौन देगा? इसलिए यह जान कर भी कि इसके उपयोग से मरना होगा, इससे हैज़ा की बीमारी फैलेगी, वे उसकी रक्षा करना चाहते हैं।" नारायण कैसी दुःखद अवस्था है! क्या एक ओढ़ने का मूल्य प्राणों से अधिक है। एक के प्राण नहीं, किन्तु परिवार के प्राण! आह, उन्हें क्या कहें, जिन के कारण हमारे देश-वासियों की यह अवस्था है। कौन कहता है कि यह सब उनके अपने पापों के दण्ड हैं। अजी, पापी को खाने का भी अधिकार

नहीं है क्या, उसे वस्त्र पाने की भी योग्यता नहीं है? रहने दो अपने शास्त्र और अपनी थोथी दलीलें।

पापियों में तो सद्विचार नहीं होने चाहिएँ। दया, उदारता, सहानुभूति आदि उत्तम भाव तो अच्छे हृदय के परिचायक हैं। श्रद्धाभक्ति तो धर्मात्माओं के चिह्न हैं। क्या ये सब भाव इन गरीबों में नहीं पाये जाते? धर्म के लिए जितना त्याग ये करते हैं, उतना कौन करता है? जिन दिनों मन्दिर तोड़े जाते थे, उन दिनों उन मन्दिरों की रक्षा के लिए ख़ून किसने बहाया और जिसने ख़ून बहाया, वह व्यक्ति क्या पापी है? वह व्यक्ति जिस जाति का हो, उस जाति के लोग क्या ओढ़ना पाने के भी अधिकारी नहीं हैं?

किसी भी धनी से, किसी भी राजा से वे कम धर्मात्मा नहीं हैं। धनियों और राजाओं की चरित-कथा सुनकर अब समाज ऊब गया है। ईश्वर के प्रतिनिधि बनकर, दिक्पालों के अंश बनकर इन राजाओं ने, इन धनियों ने, ख़ूब मनमाने किये हैं। बहुत दिनों तक इन लोगों ने आनन्द भोग लिए। आह, कैसी अनात्मज्ञता है। समाज के मुखियों को भगवान् ने समझने की अक़िल नहीं दी है क्या? शरम आनी चाहिए उस समाज को, जिसके लाखों व्यक्ति भूखों प्राणों दें, दवा के बिना जिनके परिवार का परिवार नष्ट हो जाय और समाज के मुखिया कहें कि यह उनके पापों का दण्ड है!

किसी प्रकार भी इन ग़रीब कहे जानेवालों को पापी मानने की इच्छा नहीं होती। जिनके उत्तम विचार हों, उत्तम-भाव हों, वे पापी कैसे हो सकते हैं। जो भगवान् से डरें, धर्म से डरें, ईमान से डरें, उनको पापी कोई पापी ही कह सकता है। जिन धनियों और राजाओं को समाज धर्मावतार कहता है उनके कार्यों से यदि वह देखे यदि देख सकता हो, उनके कार्यों पर यदि विचार करे, यदि वह विचार कर सकता हो तो उसे पता लगे कि ये धर्मावतार कैसे हैं और इनको धर्मावतार कहने वाले कैसे हैं। भगवन्, तुम्हारे शासन में इतना अन्याय! तुम तो दया-सागर कहे जाते हो?

मेरे हृदय के सर्वस्व, आप इनकी सेवा कीजिए। इनको अवस्था का वर्णन पत्रों में छपवा दीजिए। मेरा विश्वास है, इनकी अवस्था सुनकर आज भी भारत में ऐसी आँखें हैं जो आँसू बहावेंगी, आज भी ऐसे हृदय हैं जो आहें भरेंगे। सहायता की कमी न रहेगी। ओढ़ने काफ़ी पहुँच जायंगे। आप मेरी बहनों से कहें, मेरी ओर से कहे, ओढ़ने जलाने को दें। प्राणों की रक्षा हो। उनके बच्चे काल के ग्रास न हों। उनसे कहिए कि यह भारत तुम्हारा है, इस भारत की सभ्यता तुम्हारी है। इस भारत के नारायण तुम्हारे हैं। तुम घबराते क्यों हो। तुम भारत के रक्षक हो। भारत के रक्षक प्रताप-सिंह हैं, मानसिंह नहीं। प्रतापसिंह तुम्हारे ही जैसे थे।

तुम्हीं लोगों के समान थे। उनके पास भी ओढ़ने नहीं थे। खाने को भी नहीं था। घास की रोटी भी भर पेट नसीब नहीं थी। पर भारत उन्हीं प्रताप की याद करता है, यह उन्ही का भक्त है। मानसिंह का नहीं। मानसिंह का हीरे पन्नों से जगमगाता कण्ठा भारतीयों की आँखों को तृप्त नहीं कर सका। उनकी तलवार की पन्ने की मूठें भारतीयों के लिए वीरता के चिह्न नहीं हैं। समझे? उन्हें जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, वे उनके पाप के प्रायश्चित्त नहीं हैं। यह पाप है उस कायर समाज का, उन स्वार्थी मुखियों का। हमारी बहनें, हमारे भाई, सीधे हैं, सङ्कोची हैं, शान्त हैं। इसीसे स्वार्थी लोग उनको नोचते-खसोटते हैं। उनके पराक्रम का उपयोग अपने लिए, अपने स्वार्थ साधन के लिए करते हैं। उनसे काफ़ी लाभ उठाते हैं और उनकी ओर कुछ ध्यान नहीं देते; क्योंकि उन्होंने अपने अत्याचार के कारण बहुत से ग़रीब बना रखे हैं। उनके बढ़े हुए पेट में बहुत से असहायों का सुख सदा के लिए चला गया है। अतएव उनको विश्वास है कि एक जायगा, दूसरा आवेगा। अगर पंखा कुलियों की कमी होती, पानी भरनेवाले, रसोई बनानेवाले कम होते, कारख़ानों में मजूरी करनेवालों की इतनी संख्या न होती, तो आज उनकी दशा यह न होती। लोग उनकी रक्षा करते। येही धनी उनके घरों के आस-पास चक्कर काटते। उनकी मिन्नतें करते।

उनके लिए दवा लाते। पर ये तो समझते हैं कि ग़रीब हैं। एक जायगा, दूसरा आवेगा, वह जायगा, तीसरा आवेगा। कमी क्या है। हम कष्ट क्यों उठावें, सो भी एक रज़ील के लिए। भगवन्, जो दिन भर मरकर काम करे और आधा पेट भोजन कर सन्तुष्ट हो जाय, वह रज़ील है और जो दूसरों की कमाई पर मौज उड़ावें, वे शरीफ़ हैं। कैसी उल्टी गंगा बहती है! कब तक वह बहेगी?

मेरे सर्वस्व, मेरे पास तीन ओढ़ने अधिक हैं। आज भिजवाया है। घर में बहुत सी पुरानी धोतियाँ थीं। मेरी भी थीं और घर के दूसरे लोगों की भी थीं। मैंने फूआजी से और अम्मा से आपके कार्ड में लिखी बात बतलायी थी, वहाँ की दशा समझायी थी। वे लोग भी थीं। अम्माजी तो इस बात पर विश्वास ही नहीं करती थीं। मैंने कहा—पुरानी धोतियां यदि आप लोग दें तो मैं कथरी बनाकर वहां भेज दूं। उनसे दो चार आदमियों को लाभ ही होगा। अम्माजी ने हमें ही अपने काम के लायक़ कपड़े निकाल लेने के लिए कहा है। मैंने आज कपड़े निकाल लिये हैं। बहुत से हैं। उनमें कुछ अधफटे, कुछ थोड़े फटे और कुछ थोड़े ही दिनों में फटने वाले हैं। वे इतने हैं, जिनसे आठ कथरियां तयार होंगी। मैं शीघ्र ही बनवाकर भेजती हूं। कुछ तो मैं स्वयं सीलूंगी

और दूसरों से सिवा लूंगी। बहुत सी स्त्रियां हैं जो ख़ुशी से उत्साह से यह काम करेंगी। हमारे महल्ले के वकील शिवनारा यणसिंह की बेटी किशोरी से भी मैंने वहां की दशा कही है। उसने पचीस रुपये भेजने को दिये हैं और कहा है कि ओढ़ने बिछाने के लिए भी दूंगी। आशा है तीन चार दिनों के भीतर दस बारह बिछौने भेज सकूं। मुझे दुःख है कि मैं उन लोगों के लिए कुछ विशेष नहीं कर रही हूं। मैं चाहती हूं कि भारत की प्रत्येक स्त्री के हृदय में आग लग जाय और यह तब तक न बुझे, जब तक हमारे ये भाई और बहिनें दुःख से छुटकारा न पावें। कुछ लोग अपने उपयोग की चीज़ों में से ही आधा सूधा देदें, तो सारा काम हो जाय। अतएव ये बातें उनके कानों तक पहुँचनी चाहिए। उन्हें उनके दुःख समझाने चाहिए। यह तो कोई बड़ी बात नहीं है। बहुत ही शीघ्र इसका प्रबन्ध होजायगा। मेरा ख़याल है कि इस काम को जितनी आसानी से स्त्रियां कर सकती हैं, उतनी आसानी से पुरुष नहीं। इस काम का भार स्त्रियों के हाथ में आने से ख़र्च भी कम पड़ेगा।

मैं सोच रही हूं कि यदि मुझे आज्ञा मिले, तो मैं अपने पिता के घर चली जाऊं। वहां मैं यहां की अपेक्षा अधिक प्रबन्ध कर सकती हूं। हमारे समाज में बहुओं की अपेक्षा बेटियों को अधिक आज़ादी है। मैं अपने पिता के घर जाकर

कई घरों में जा सकती हूं, और वहां से सहायता पा सकती हूं। जैसी आज्ञा होगी, वैसा ही करूंगी, पर घबराहट बहुत है। शीघ्र ही आदेश मिलना चाहिए।

मेरी समझ से अच्छा होता, यदि सेवासमिति के मन्त्री स्त्रियों के नाम एक अपील निकालते, उनसे उन भाई बहनों की दुःख कथा सुनाते। कुछ स्त्रियों को स्वयं सेविका बनने के लिए भी वे आह्वान करते। स्त्रियों के ज़िम्मे ओढ़ना, बिछौना बनाने का काम दिया जाता। वे घरों में जातीं, दुःखी भाई बहनों की दुःख-कथा सुनातीं और वहां से ओढ़ना और बिछौना ले आतीं, फटे पुराने वस्त्र ले आतीं। घरों में बहुत से ऐसे निकम्मे वस्त्र पड़े हुए रहते हैं, उनसे कोई विशेष काम भी नहीं निकलता। उन वस्त्रों का मिल जाना आसान है और इससे उन भाई बहनों का बड़ा उपकार हो सकता है। उनसे कहिएगा, आप भी विचार कीजिए। यदि इससे काम हो सकना आप लोगों को सम्भव मालूम पड़े, तो अवश्य आप समिति के मन्त्री को एक अपील निकालने के लिए कहें।

एक और बात मैं निवेदन करना चाहती हूँ। इस समय तो वे लोग दुःखी हैं, रोगी हैं, असमर्थ हैं। इस समय वे काम ही क्या कर सकते हैं और उनसे काम करने के लिए कौन हृदयहीन कहेगा। जब वे अच्छे

हो जांय, तब आप लोग उन सब गांवों में चर्खे कातने का उपदेश अवश्य दें। घर पीछे कम से कम एक चर्खा भी हो, तो इस समय काम चल जायगा। समिति को आप लोग परामर्श दें कि वह कुछ चर्खे बनवा कर गांवों में बांट दे और वहां की बहनों से प्रतिदिन थोड़ा सूत कातने के लिए कहें। चर्खे के विषय में मेरा अनुभव बड़ा ही उच्च है। रुई नहीं मिलती, धुननेवाले नहीं मिलते यह सब केवल बहाने हैं, जो चुराने के उपाय हैं। आप लोग इस तरह उन्हें समझाइयेगा, जिससे वे बहाने-बाज़ी न कर सकें। नया काम न है। नये काम से सभी पहले घबराते हैं। हमने यहाँ बहुत से घरों में चर्खे चलवा दिये हैं। जिन लोगों को इसका अभ्यास हो गया है, वे इसकी बड़ी तारीफ़ करते हैं। कइयों का तो यह ख़याल है कि चर्खे कातने से लड़ाई झगड़े कम हो जाते हैं। समय ही नहीं मिलता। कौन लड़े। लड़ने में तो वह आनन्द नहीं मिलता, जो चर्खे की झंकार में। उससे एक प्रकार की रागिनी निकलती है, जो मन को मोह लेती है, मन शान्त हो जाता है। बड़ा ही आनन्द आता है। कुछ सूत निकल आते हैं। उनसे बड़ा सहारा होता है। एक चर्खा यदि साल भर बराबर चले, तो उससे कपड़े का काम, साधारणतः एक छोटे परिवार का चल सकता है। ओढ़ने बिछौने की ऐसी तकलीफ़ न रहेगी।

इसपर विचार कीजियेगा। मैं तो आग्रह करूँगी कि इसका प्रबन्ध आप लोग अवश्य करें। दुःख ही दूर हो जायगा और वह सदा के लिए दूर हो जायगा।

जब मनुष्य का बल थक जाता है, जब उसे विश्वास हो जाता है कि मेरी शक्तियाँ निकम्मी हैं, इनसे कुछ न होगा, तब वह सहारा ढूँढ़ता है। उस समय का एक ही मज़-बूत सहारा है और उस सहारे का नाम है भगवान्। मैं भी आज उन्हीं का स्मरण करती हूँ। मैं अपने भाई बहनों का दुःख तो दूर कर नहीं सकती। थोड़ी शक्ति है, थोड़ा बल है, उस पर थोथी इज़्ज़त, निकम्मी मानमर्यादा का भय! सास ससुर का लिहाज़! ऐसी दशा में घिरी मुझ सरीखी स्त्री से क्या होगा। हाय, धर्म करने में भी भय! अपने दुःखी भाई बहनों की सेवा करने में भी भय, उनके प्रति सहानुभूति दिखाना भी पाप! ओह, कितनी पराधीनता है। यह पराधीनता तो राजनीतिक पराधीनता से हज़ार गुनी अधिक खलनेवाली है। कोई मरें, दुःख से तड़पें और हम उसकी सेवा के लिए घर से बाहर पैर रखने न पावें, क्योंकि बड़े घर की बहू हैं। यह कैसा बड़प्पन! इसे वही रखे जिसे यह प्यारा हो। मैं तो इसे नीचता समझती हूँ। हम लोग तो पत्थर की नहीं हैं। हमारे भी हृदय है, उसमें दुःख सुख होता ही है। उसे प्रकाशित करने का अधिकार मिलना

चाहिए। अपने सुख के लिए, अच्छे कामों के लिए तो स्वाधीनता मिलनी चाहिए। मैं समाज के कई मुखियों को जानती हूँ, जिनके एजेंट स्त्रियों को दुराचार के लिए बहकाते फिरते हैं, प्रलोभन देते हैं। उस समय न मालूम उनका धर्म-ज्ञान कहाँ चला जाता है। उस समय वे समाज की इज़्ज़त भूल जाते हैं और वैसी स्त्रियों के विरुद्ध वे कुछ भी नहीं बोलते। उनकी ज़बान ही नहीं हिलती। पर धर्म-काम के लिए कोई बाहर न जाय, घर से बाहर पैर न रखे। इज़्ज़त चली जायगी, बड़प्पन नष्ट हो जायगा। मैं कहती हूँ और साफ साफ कहती हूँ, ईमानदारी और न्याय की ओर से कहती हूँ कि ऐसी इज़्ज़त धूल में मिल जाय, यह बड़प्पन चकनाचूर हो जाय। मेरे देवता, आप अपील अवश्य निकलवावें। मेरा विश्वास है कि वह अपील स्त्रियों के कानों तक पहुँचेगा और वहाँ वह आग जलावेगा। स्त्रियों को भी ऐसे अवसरों पर अपने कर्तव्य का ध्यान आवेगा। उन्हें भी सामाजिक बन्धनों की अनर्थक कड़ाई का ध्यान आवेगा। इससे बड़ा लाभ होगा।

आप बुरे कामों से रोकिए। आप हमारे हितचिन्तक हैं। आपकी बात मानने के लिए हम तयार हैं। पर अच्छे कामों से तो आपको नहीं रोकना चाहिए। यह तो दुश्मन का काम है। दुश्मन ही तो चाहता है कि इससे कोई अच्छा काम न

होने पावे। नहीं तो अच्छे कामों का फल भी इसे मिलेगा। क्या समाज हम लोगों का दुश्मन है? क्या समाज के मुखिया हमारी भलाई नहीं चाहते? क्यों, इसका उत्तर उन्हें देना होगा। नहीं तो, अब वे दिन बीत रहे हैं, जब हम लोगों की घोषणा उन्हें सुननी पड़ेगी। उन्हीं की बहू-बेटियाँ उनसे कहेंगी—"हम लोग आपकी बात अब न मानेंगी। आप हमारे दुश्मन हैं। आप हमसे बुरे काम कराते हैं और अच्छे कामों से रोकते हैं।" बस, उस दिन समाज के मुखिया समझेंगे कि उनकी मूर्खता का कैसा दुःखद परिणाम हुआ। पर समझ कर ही क्या करेंगे? ऐसे बुरे कामों का जो परिणाम होना चाहिए, वह तब तक हो चुका रहेगा। ख़ैर, यह तो जब होगा तब न? आज तो हम असमर्थ हैं, बलहीन हैं। अतएव इस समय हमारा सहारा भगवान् हैं। उन्हींका स्मरण करती हूं। उन्हींसे प्रार्थना करती हूं कि वे हमारे दुःखी भाई-बहनों का दुःख दूर करें। देशवासियों के हृदयों में उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करें। देश के भाई और बहन उन रोगी, दुःखी असमर्थों को भी अपने भाई और बहन समझें। उनके दुःखों को दूर करने की ओर थोड़ा भी ध्यान दें।

हृदय-धन, आपके लिए मैं क्या कहूं। क्या मैं आपको उपदेश देने लायक़ हूं? आपके कार्यों से मैं अपना मस्तक

ऊँचा समझ रही हूं। बस इतना ही निवेदन है कि ऐसा कीजिएगा कि जिससे मेरा मस्तक सदा ऊँचा रहे। हिन्दू स्त्रियों को यही तो लाभ है। आप मेहनत करें, पढ़ें लिखें, रात दिन एक करके पण्डित हों और मैं पण्डितानी कहाऊँ। आप यत्न करें और उसका फल मुझे मिले। कितना लाभ है। इसीलिए कहती हूँ—"नाथ, आप ऐसा करें जिससे मेरा माथा इसी प्रकार सदा ऊँचा बना रहे। एक और निवेदन है। शरीर की उपेक्षा न कीजिएगा, अपने साथियों के स्वास्थ्य की ओर भी ध्यान रखिएगा।

आपकी

......मा
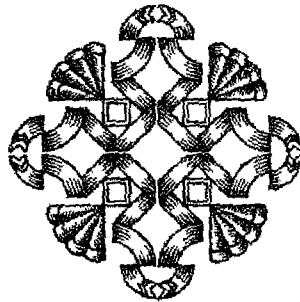
(१०)

नाथ,

आज अठारह दिनों के बाद आपका पत्र मिला। सेवासमिति के मन्त्री महोदय का पत्र भी आपके पत्र के साथ ही मिला। बीच में आपके समाचार मुझे मिलते थे अवश्य, पर पत्र कोई नहीं मिला था। मेरे मन में इससे कोई कष्ट नहीं हुआ। और समय होता तो मैं आप पर अप्रसन्न हो जाती, पर इस समय तो वैसा कुछ भी नहीं हुआ। अप्रसन्नता का विचार ही न आया। मैं जानती नहीं, ऐसा क्यों हुआ। जानना भी नहीं चाहती।

आपने तो अच्छी दिल्लगी की। समिति के मन्त्री के पत्रों से मालूम होता है कि मेरे पत्र की बातें आपने उनसे कही हैं। इसीलिए उन्होंने धन्यवाद के पत्र मेरे नाम पर भेजे हैं। भला, उन्हें कैसे मालूम होता कि इतने रुपये मैंने स्वयं भेजे हैं और इतने अपनी भाभी

से भिजवाये हैं। वे कोई ज्योतिषी तो थे नहीं कि गणना से जान लेते कि अमुक स्त्री ने इतने ओढ़ने, इतनी कँथरियाँ स्वयं भेजी हैं और दूसरी स्त्रियों को भी भेजने की प्रेरणा की है। मैं जानती हूँ, यह सब आपकी करामात है। क्या मैं पूछूँ कि आपने ऐसा क्यों किया? यह न समझिएगा कि मैं आपसे कैफ़ियत तलब कर रही हूँ। उसकी ज़रूरत नहीं है, ज़रूरत भी होती, तोभी मैं वैसा नहीं करती। क्योंकि आपके कार्यों में मुझे कोई सन्देह नहीं है। मैं जानती हूँ, आपने जो कुछ किया, सोच समझ कर ही किया होगा। ग़लती भी हो गयी हो, तो अब तो वह सुधर नहीं सकती। फिर उसे याद दिलाकर आपको कष्ट क्यों पहुँचाऊं। मनुष्य को अपनी ग़लती पर पश्चात्ताप होता ही है। आपसे यदि कोई ग़लती हो जाय और आप जान जांय कि मुझसे यह ग़लती हुई, तो अवश्य ही आपको पश्चात्ताप होगा। फिर आपके हित-चिन्तकों का तो वह काम नहीं होना चाहिए कि ग़लती याद कराकर आपको वे दुःख पहुँचावें। इस सम्बन्ध में ये सब बातें कुछ भी नहीं हैं। मैं जो पूछती हूँ वह दूसरी बात है। मेरा प्रश्न आपके भाव से सम्बन्ध रखता है, आपके कार्य से नहीं।

शुभकर्म करने से तृप्ति का होना स्वाभाविक है। हर समय शुभकर्म करनेवाले तृप्त होते हैं। चाहे उनकी संख्या अधिक हो या कम। जिस समय अधिक शुभकर्मी होते हैं,

उस समय नया शुभकर्म करनेवाला समझता है कि मैं बड़े दल में आगया, मेरी भी गणना अब श्रेष्ठदल में होगी। जिस समय उनका अभाव होता है, उस समय भी वह यह समझ कर तृप्त होता है कि इन सबसे मैं मनुष्यत्व में, ऊँचा हुआ। इनके लिए मैं आदर्श हुआ। मुझे देखकर ये उत्तम कर्म करना सीखेंगे। अतएव मैं कहती हूँ कि शुभ-कर्म करनेवालों को हर समय आत्म-तृप्ति का अवसर मिलता है और उन्हें अपने इस पुरस्कार का आनन्द लूटने का सदा अधिकार रहता है। पर क्या शुभकर्म करनेवालों को अपने कार्यों का प्रचार भी करना चाहिए, क्या लोगों को बतलाते फिरना चाहिए कि मैंने यह शुभ काम किया है और वह सिर्फ़ इसलिए कि वे हमारा गुण गान करें? वे हमारी ख्याति करें? मैं तो ऐसा करना निन्दित तो नहीं, हाँ उचित नहीं समझती।

मेरा ख़याल है कि आपको मेरी चिट्ठियाँ अच्छी मालूम हुई हों। मेरे विचार, मेरा उत्साह आपको पसन्द आये हों, आपको मेरी सहायता और सहायता भिज-वाने का प्रयत्न देखकर आनन्द आया हो और आपने इससे गर्व अनुभव किया हो। सम्भव है कि आपके मन में यह विचार आया हो कि इस बात के जान लेने पर मन्त्रीजी के मन में मेरी स्त्री के लिए और मेरे लिए श्रेष्ठ

धारणा उत्पन्न होगी, अतएव आपने उस बात को प्रकाशित कर दिया होगा। यह भी सम्भव है कि आपने इसे अपने महत्त्व की बात समझा हो और अपना महत्त्व प्रकाशित करने के लिए प्रकाशित कर दिया हो। मैं केवल अन्दाज़ा बाँध रही हूं। किसी निश्चय पर नहीं पहुँच रही हूँ। इसका कारण है आप का स्वभाव। आपने कई बार मुझसे कहा है कि सत्कर्मों का पारितोषिक है आत्म-तृप्ति। पत्रों का विज्ञापन नहीं। अख़बारों में चित्रों का प्रकाशित होना नहीं। ऐसे विचारोंवाला मनुष्य अपनी स्त्री के एक छोटे कार्य का ढिंढोरा क्यों पीटेगा? आपके इसी विचार ने मुझे किसी निश्चय पर नहीं पहुँचने दिया। नहीं तो क्या मुझे मालूम नहीं है कि कई लोग ख़ुद लेख लिखकर अपनी स्त्री के नाम से प्रकाशित कराते हैं। कई स्त्रियों को मैं जानती हूँ कि वे अपने पति की कविताओं के सहारे कवि बन बैठी हैं। पर ये तो गन्दी बातें हैं, छोटे लोग किया करते हैं। और इससे आनन्दित भी होते हैं। हों, मैं क्या करूँ। ये तो मेरे आदर्श नहीं हैं। इसीसे न तो मैं उनकी प्रशंसा कर सकती हूँ और न निन्दा। उनका रास्ता दूसरा है, मेरा दूसरा।

अच्छा तो आप बतलाइए, आपने यह दिल्लगी क्यों की। धन्यवाद लेना था तो ख़ुद ले लेते। मुझे तो धन्यवाद चाहिए नहीं। मैं आपसे सच कहती हूं कि आपके पत्र में

उनकी दुःख-कथा पढ़कर जो मर्मान्तक दुःख मुझे हुआ था उसकी शान्ति यदि कुछ हुई, तो इसीसे कि मैं उनकी सेवा में कुछ चीज़ें स्वयं भेज सकी और दूसरी स्त्रियों से भेजवा-सकी। मेरी विशेष शान्ति का कारण यह था कि मैं अपने सर्वस्व अपने पति को उनकी सेवा के लिए भेज सकी हूं। हैज़े की बीमारी कितनी भयानक है। यह तो छूत का रोग है। इस रोग में कोई पास तो फटकता नहीं। पर मेरे मन में यह ख़याल एक दिन के लिए भी नहीं आया। एक क्षण के लिए भी मैं भयभीत नहीं हुई। पर मैं जानती हूँ, यह बात न तो आपके ध्यान में आयी और न आपके मंत्री महोदय के। कुछ रुपये और कपड़ों को ही आप लोगों ने महत्त्व की दृष्टि से देखा। देखते कैसे, आख़िर ठहरे तो मर्द ही न?

आपके पत्र से यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब बीमारी का प्रकोप बिल्कुल शान्त होगया। कई दिनों से कोई बीमार नहीं पड़ा है। जो पहले के बीमार थे, उनमें बहुत अच्छे होगये और अब कुछ ही लोग अच्छे होने को बाक़ी हैं। धन्यवाद! दयालु भगवान् को असंख्य धन्यवाद! उन्होंने अपने सेवकों की लाज रखी। उन्हें सुयश दिया। कितनी बड़ी बात हुई। इससे देश को लाभ हुआ और जनता ने, ग्रामीण जनता ने एक नया सबक़ सीखा।

आपने लिखा है "जिन धनियों की तुम निन्दा कर रही हो, जिन पर तुम नाराज़ हो, उन लोगों ने इस काम में काफ़ी सहायता दी है। उनके रुपयों और वस्त्रों से ही इन लोगों के प्राणों की रक्षा हुई है"। वे धन्यवाद के पात्र हैं, दयालु हैं। पर क्या मैं जो कहती हूँ, वह असत्य है? क्या इन्हीं धनियों के कारण हमारे देश में ग़रीबों की संख्या नहीं बढ़ रही है? इन धनियों की प्रतिद्वन्द्विता में ठहरना किसी बड़े धनी का ही काम है। छोटी पूंजी रखनेवाला कोई काम इस समय नहीं कर सकता, क्योंकि उसे इन पूंजी-पतियों से मुक़ाबिला करना पड़ता है, और इनके मुक़ाबिले में ठहरना उसके लिए बिलकुल नामुमकिन है। अच्छा बतलाइए, क्या ये धनी लाभ में मजूरों का ख़याल रखते हैं? कहते हैं—"लाभ में ख़याल तो तब रखा जाय, जब वे घाटे में भी शामिल रहें।" कैसी बड़ी युक्ति है। वे इसी युक्ति के बल पर मैदान मार लेते हैं। पर अब उनसे कहा जाता है कि आपकी पूंजी, मजूरों की मजूरी और हानि-लाभ बराबर, कहिए, मंज़ूर है, तब वे बग़लें" झांकने लगते हैं। कुछ रुपये उन लोगों ने दे दिये हैं, इससे मैं उन्हें दाता कैसे नहीं समझ सकती। मैं तो समझती हूँ कि इस काम में सहायता देकर इन लोगों ने अपने पापों का कुछ अंश में प्रायश्चित्त किया है।

हमारे मामाजी आये हैं। अभी तो वे हमारे मैके में ही ठहरे हैं। वहाँ से पत्र आया है, उसमें लिखा है कि पांच छः दिनों के बाद वे हमारे यहाँ आवेंगे। मेरा विचार है कि वे आवें तो उन्हें दो चार दिन ठहरालूँ। आप भी तब तक आ ही जाँयगे। अच्छा रहेगा। उनके दर्शन होंगे। उनके उपदेश हम लोग सुनेंगे।

मामाजी ने हमारे श्वसुर को लिखा है कि तुम कुछ दान, पुराय करो, तीर्थ-यात्रा करने की भी उन्होंने सम्मति दी है। क्यों, इसका पता नहीं है। मैं तो उनकी बातों से घबरा सी गयी हूं। उनका मतलब क्या है, इसका तो मैं निश्चय ही नहीं कर सकती। पर कुछ बात तो है अवश्य। कुछ होनेवाला है। कम से कम मामाजी ऐसा ही समझते हैं। ये ही सब बाते हैं जिनसे मैं घबराती हूं।

हाँ, इतना तो मैं भी देख रही हूं कि बाबूजी का स्वभाव इधर कुछ बदल रहा है। अब ये बड़े असन्तोषी बन गये हैं। स्वभाव में एक प्रकार का चिड़चिड़ापन आगया है। न कुछ बात पर भी बिगड़ पड़ते हैं। एक दिन जगन्नाथ से बिगड़ गये। बात कुछ भी नहीं थी। दो तीन लड़के उनके स्कूल के आये थे। उन्हींके खाने के लिए जगन्नाथ ने कुछ दिया। बाबूजी ने देख लिया। इसमें छिपाने की तो कोई बात नहीं थी। फिर छिपाने की क्या ज़रूरत। पर

बाबूजी बहुत बिगड़े। उन्होंने जगन्नाथ को बहुत भली-बुरी कही। जगन्नाथ बिचारा कट कर रह गया। की उसने बुद्धिमानी। यदि वह कुछ उत्तर देता, तो बात बढ़नी ही। फिर ये बिचारे आगन्तुक क्या समझते। बाबूजी के अनाप-शनाप बकने के अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। उन लोगों ने कुछ समझ भी लिया होगा, पर जगन्नाथ जो चुप रह-गये, इससे उनको समझने का अधिक मसाला न मिल सका। यह अच्छा ही हुआ।

एक दिन हम पर बिगड़ खड़े हुए। मेरा अपराध था कंथरियां बनाने के लिए कपड़े निकालना। वे कपड़े तो बहुत पुराने थे। किसी काम में भी नहीं आते थे। यों ही पड़े थे, उन्हीं का मैंने उपयोग किया था। ऐसी रद्दी चीज़ों का ऐसा उत्तम उपयोग हो रहा है, यह जान कर तो उन्हें ख़ुश होना चाहिए था, पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। लगे कहने "अब तो हमारा घर कुछ दिन में सेवासमिति का दफ़्तर बन जायगा। बेटा सेवासमिति के पीछे बावला बना घूमता ही है, बहू भी, अब देखता हूँ, पीछे पैर देनेवाली नहीं है। वह भी अपने मालिक का साथ देने चली है। सेवासमिति में भेजने के लिए चीज़ें इकट्ठी की जा रही हैं। घर क्या हुआ, सेवासमिति का दफ़्तर हुआ। इन रज़ीलों के लिए तकलीफ़ उठाना क्या शरीफ़ों के काम ? पर इस समय तो हवा ही

बदल गयी है। बेटे को इतना पढ़ाया। अब वह इन्हीं सब कामों के पीछे बरबाद हो रहा है। कहीं बाढ़ आयी, गांव बह गये, चलो साहब, बाबू साहब वहां जाने के लिए तयार। कहीं कोई रोग फैला है, देखते हैं, वहां के लिए भी तयारी हो रही है।

वहू को तो मैं अच्छी समझता था। बड़े घर की बेटी है। पर यह तो देखता हूं, मेरे घर ही में आन्दोलन कर रही है। ग्राम-सङ्गठन में इसने भाग लेना शुरू कर दिया है। गांव की जिस गली में जाता हूं, अक्सर इसी की चर्चा सुनता हूँ। भला बहुओं की गांव में चर्चा होनी कोई अच्छी बात है?" इसी प्रकार की बहुत सी बातें वे आजकल कहते हैं। पहले तो इन बातों की ओर मेरा कुछ ध्यान ही न था। मैं समझती थी कि हम लोगों के कामों की नवीनता से इन लोगों का इधर ध्यान आया है, पर मामाजी के पत्र ने मन में सन्देह पैदा कर दिया है। एक प्रकार के अनिष्ट की आशङ्का से हृदय दहल सा गया है। हाय भगवान् क्या होगा!

जो कुछ होगा, देखा जायगा, जो सामने आवेगा, भोगा जायगा। अभी से चिन्ता करके प्राण क्यों सुखाये जाँय। भय तो तब करना चाहिए जब भय का कारण सामने हो। अभी तो भय करने का कोई कारण नहीं है। घबराने की कोई बात नहीं है।

आपने लिखा था कि एक ही दो दिनों में हम लोगों का कैम्प यहाँ से उठेगा। पर आपने यह नहीं लिखा है कि कब तक आपका यहां आना होगा। मेरी तो राय है कि वहाँ का काम समाप्त होते ही आप घर चले आवें। क़रीब एक महीने आप लोगों को वहाँ रहते हो गये, परिश्रम तो पड़ा ही होगा। उसके ऊपर चिन्ता। एक रोगी की सेवा करना कठिन हो जाता है, आदमी घबरा जाते हैं। यहां तो गांव के गांव रोगियों की सेवा करनी पड़ी है। ऐसी दशा में मेरी समझ से अब आप-लोगों को विश्राम की आवश्यकता है। अतएव मैं अपनी ओर से प्रार्थना करती हूँ और श्रीमती भार्या की भाषा में आज्ञा देती हूं कि अब शीघ्र घर चले आवें।

आपकी

स्वागतोत्सुका

.... भा
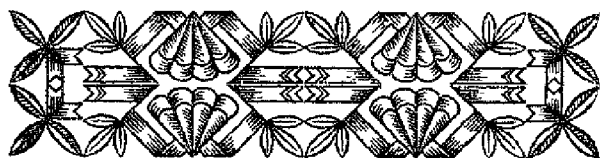
प्राणधन,

आज नौ दिन आपको यहाँ से गये होगये। आपका कोई पत्र न आया, तबीयत तो अच्छी है ? मिरज़ापुर से लौटने पर आप घर आये विश्राम के लिए, पर अभाग्य वश यह घर कलह का घर बन गया। आपको शान्ति न मिली, विश्राम न मिला। बाबूजी का काण्ड देखकर उस समय तो नहीं, अब मैं घबरा गयी हूं। उस समय आप थे। मेरा ध्यान आपमें था। मैं तृप्त थी, मुझे किसी बात की ओर ध्यान देने का अवसर ही न था। मेरी समस्त इन्द्रियाँ आपमें लगी थीं। वे उधर ही तन्मय थीं। अतएव वे अपने सामने की घटना भी नहीं देख सकती थीं। पास की बात भी नहीं सुन सकती थीं। इसका अनुभव कोई स्त्री ही कर सकती है, या कोई योगी।

आपके जाने के बाद मुझे अवसर मिला है कि उस समय की घटनाएँ सोचूँ। वे एक एक करके सामने आती

जाती हैं जानी सुनी तो थी ही, केवल उनकी ओर ध्यान नहीं था। अब आपकी अनुपस्थिति ने ध्यान भी उधर खींच लिया। अब मैंने सोचा है इसका प्रतीकार करना! जीवितेश्वर, स्त्री-धर्म बड़ा कठोर है। स्त्रियों की कोमलता का वर्णन तो आपने भी पढ़ा होगा और भी बहुत से लोग पढ़ते हैं। पर वे केवल कोमल ही नहीं होतीं, कठोर भी होती हैं। उनकी कठोरता का परिचय तब मिलता है, जब उन्हें अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है, जब उन्हें किसी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। आपके जाने के बाद से मैं इस बात का अनुभव करने लगी हूं कि अब मुझे अपने कठोर कर्तव्य का पालन करना पड़ेगा। मैं लिख चुकी हूं, फिर लिखती हूं कि स्त्री-धर्म बड़ा ही कठोर है। उसका पालन करना तलवार की धार पर चलना है। अतएव स्त्रियां अपने उस धर्म के पालन के समय किसी दूसरी ओर ध्यान नहीं देतीं। समाज, परिवार, सास-ससुर, पिता-माता, भाई-बन्धु इन सभी की ओर से वे आँखे फेर ले सकती हैं। इनका मोह छोड़ सकती हैं। नाथ, मेरे लिए आज वही कठोर समय सामने आरहा है, मेरी समझ से तो आगया है।

स्त्री के लिए उसका पति ही सर्वस्व है और पति के लिए स्त्री। दोनों ही दोनों के सहायक हैं। यह बात मैं अपने देश के वर्तमान समय के स्त्री पुरुषों के लिए कह रही

हूं, क्योंकि इस समय हमारा देश दुःखों का आगार बना है। हमारे देशवासी असहाय होगये हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक स्त्री पुरुष को अपने कठोर कर्तव्य का ध्यान आना चाहिए। देश के लिए, देशवासियों के लिए प्रत्येक स्त्री पुरुष को विलासिता का त्याग करना चाहिए। देश की ऐसी परिस्थिति में, देशवासियों की ऐसी दुर्दशा के समय जो स्त्री-पुरुष विलासिता की ओर झुके, मेरे हृदय में उसकी कुछ भी इज़्ज़त नहीं है। मैं उस जोड़ी का तिरस्कार करती हूं। हम अपने देश की दशा की ओर से अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकतीं। दूसरे देश के स्त्री-पुरुषों से विलासिता का पाठ पढ़ने का समय हमारे लिए यह नहीं है। वे तो ख़ुशहाल हैं, उनके देश आज़ाद हैं, उन का समाज सङ्गठित है, उनके यहाँ स्त्री और पुरुष के अधिकार विभक्त हो चुके हैं। वे सुख-विलास का आनन्द उठा सकते हैं, पर हमें तो वह अवसर नहीं है। हमारा देश तो आज पराधीन है। राजनीति, धर्म और समाज की बेड़ियों से इसके पैर जकड़े हुए हैं, हाथ बँधे हैं। ऐसी दशा में इस देश के जो स्त्री-पुरुष विलासिता की ओर झुकें, उनसे बढ़कर निर्लज्ज तो मैं किसी दूसरे को नहीं समझ सकती। भला बतलाइए। यह बात सोचते भी तो शरम आती है, फिर इसे करे कौन ?

कर्त्तव्य तो परिस्थिति के अनुसार होता है। पड़ोस में रहनेवाले दो घरों के लोगों के भी कभी कभी जुदे जुदे ढङ्ग से काम होते हैं। एक घर में श्राद्ध होता है, दूसरे घर में उत्सव! जिस पर जैसी बीते, वह वैसा भोगे। इसके लिए दुःख सुख की क्या बात है। जिसका पेट भरा है, वह रात भर सोवेगा और जिसका पेट ख़ाली है, उसे भला रात को नींद काहे को आने लगी। यही बात है। हमारे देशवासियों के आनन्द मनाने का यह समय नहीं है। हमारे देशवासी अन्नहीन, बलहीन, सहाय-सम्पत्ति-हीन हों और हम विदेशी स्त्री-पुरुषों की नक़ल कर अपने जीवन का लक्ष्य विलास बनावें, यह कितने शरम की बात है। मेरी समझ से तो ऐसी बात सोचना भी पाप है।

पर दुःख है कि हमारे देश के धनी लोगों का इधर ध्यान नहीं है। औरों को तो मैं क्या कहूँ। मेरे बाबूजी ही इन बातों को नहीं समझते। आप जब मिरज़ापुर गये थे, उसी समय वे बहुत बिगड़े थे। उन्हें यह बिलकुल अच्छा नहीं लगा था। वे कहते थे "काजीजी जिस शहर के अन्देशे से दुबले हो रहे हैं। अजी ईश्वर को जैसा भोगावेगा, वह वैसा भोगेगा। हम दूसरों के लिए क्यों हाय हाय करें?" बाबूजी के इसी भाव ने आप

के वहाँ से लौट आने पर ज़ोर पकड़ा था और इसी के फल स्वरूप आप पर डांट-फटकार पड़ी थी।

आप सह सकते हैं अपना अपमान। आपको अधिकार है। पर मुझे अधिकार नहीं है। मेरे सामने मेरे देवता का कोई अपमान करे और मैं सहूँ, यह हो नहीं सकता। वह अपमान करनेवाला कोई भी हो, मैं उसका अपमान किये बिना न रहूँगी, उससे बदला लिये बिना न रहूँगी। यही मेरा धर्म है। मैं स्त्री हूँ, मेरी पूर्णता मेरे पति से है। उस पति का अपमान आत्मापमान है। अपनी आत्मा का, अपने आराध्य देव का, अपने घट घट व्यापी राम का अपमान है, वह मैं सह नहीं सकती। शक्ति ही नहीं है। शक्ति होती, तो भी नहीं सहती, क्योंकि सहना ही नहीं चाहिए।

कोई भी विद्वान्, विचारवान धर्मात्मा यह कह सकता है कि दुःखियों की सेवा करना अवारों का काम है? रोग से पीड़ित असहायों को दवा देनी, उन्हें पथ्य देने को पाप बतलाने वाले राक्षस इस पृथिवी पर अभी भी बसते हैं, इसका ज्ञान मुझे नहीं था। अब हुआ है। मैंने उस राक्षस का प्रत्यक्ष दर्शन किया है। दुःख है, मैंने अपने श्वसुर के रूप में उसका दर्शन किया है। मैं उन्हें राक्षस ही कहती हूँ और जानबूझ कर कहती हूँ। मैं जानती हूँ, सास ससुर के प्रति बहुओं

का कर्तव्य क्या है, पर मैं यह भी जानती हूँ कि पति के प्रति स्त्री का कर्तव्य क्या है। मैं यह भी जानती हूं कि स्त्री-धर्म क्या है। मैं प्रसन्न होती, यदि अपने सास-ससुर के लिए मुझे अपने पति का त्याग करना पड़ता। समय आता, तो मैं वह करती और खुशी से करती, अवश्य ही दुनिया मेरी निन्दा करती, मेरे पतिदेव मुझपर अप्रसन्न होते, मेरा संसार बिगड़ जाता, पर मैं प्रसन्नता से इन सब दुःखों को सहती। हाय, मेरे अभाग्य से आज ठीक उसके उलटा अवसर आया है। मैं तयार हुई हूँ सास और ससुर छोड़ने के लिए। मैंने निश्चित कर लिया है अपना राज-महल छोड़ने का। जिस घर में आजतक मैंने आनन्द उपभोग किया है, जिस घर की मैं मालकिन हूँ, आज उसी घर को छोड़ देने का मैंने निश्चय कर लिया। यह घर मेरे पति का था। वे इसीमें उत्पन्न हुए थे, इसीमें खेले थे, बड़े हुए थे। इसीमें रहते थे। यह घर उनका था। अतएव यह मुझे प्यारा था। वे यहाँ विश्राम करते थे, उन्हें यहाँ शान्ति मिलती थी, अतएव मैंने इसे अपने लिए मन्दिर बनाया था। पर आज इस घर की वह शक्ति नष्ट होगयी। अब यह मेरे आराध्यदेव को शान्ति नहीं दे सकता। इस घर में उन लोगों का निवास है जो मेरे देवता का, मेरे जीवितेश्वर का अपमान करते हैं। अतएव इस समय इस घर की हवा मेरे लिए नरक की हवा

से भी बढ़कर दुःखदायी है। यह घर मेरे लिए घोर दुर्गन्ध-मय, यातनामय स्थान से भी बढ़कर भयदायक है। मैं इसका त्याग करूँगी, अनेक कष्ट उठाकर भी। शरीर के कष्टों की ओर तो मैंने कभी ध्यान ही नहीं दिया है। मेरी समझ से हमलोगों का इस समय यही धर्म भी है। पराधीन देश के स्त्रीपुरुषों को शारीरिक सुख भोगने का कोई अधिकार ही नहीं है। पराधीनता समस्त दुःखों का, समस्त अपराधों का मूल है। पराधीन मनुष्य का बल, बुद्धि, धन आदि कुछ भी अपना नहीं होता। उसका बल दूसरों के लिए होता है, उसके धन से दूसरे लाभ उठाते हैं। उसका परिश्रम मालिक के लिए है। वे अपनी किसी भी वस्तु का उपयोग, मालिक की इच्छा के बिना अपने कल्याण के लिए नहीं कर सकते। हां, एक मन ही ऐसी वस्तु है, जो उस दशा में भी स्वाधीन रह सकता है और जो लोग उसे स्वाधीन रखना चाहते हैं, उनका मन स्वाधीन रहता भी है। वही एक पराधीनता के दुःखों से मुक्त रह सकता है। पर आज मैं उस मन को भी दुःखी बनाने के लिए तयार हूँ। मैं जानती हूं इसके कारण बहुतों को कष्ट होगा। सब से अधिक तो स्वयं मुझे ही कष्ट होगा। मेरे पिता-माता को, भाई को, आपको तथा अन्य हितैषियों को भी कष्ट होगा। पर करूं क्या, धर्म कैसे छोड़ूं? धर्म छोड़

कर पतित बनने की अपेक्षा इन कष्टों को मैं दुःखदायी नहीं समझती, अतएव आज मैं उस दुःख को उठाने के लिए तयार हूं और उठाऊंगी।

नाथ, आपतो जानते हैं कि मनुष्य का सम्बन्ध कितना व्यापक है। संसार के कितने प्राणियों, और कितनी वस्तु से उसका सम्बन्ध है, इसकी गिनती असम्भव नहीं, तो कठिन ज़रूर है। यह व्यापक सम्बन्ध सदा उसके लिए सुखदायी ही रहता है, यह बात नहीं है। उसे अपने अनेक सम्बन्धियों से समय समय पर दुःख भी उठाना पड़ता है। पर वह इस दुःख को सहता है, प्रयत्न करके इस दुःख की तीव्रता वह कम करता है और सम्बन्ध बनाये रहता है। वह ऐसा करता है, किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए। मनुष्य इन सम्बन्धों को तबतक नहीं तोड़ता, जबतक ये सम्बन्ध उसके उद्देश्य में बाधक नहीं होते, पर जिस दिन जिस सम्बन्ध से उसके उद्देश्य में बाधा पहुँचे, उसे चाहिए कि उसी दिन वह उस सम्बन्ध को तोड़दे, उस सम्बन्धी को छोड़ दे। यदि वह सम्बन्धी उद्देश्य को नष्ट भ्रष्ट करने का प्रयत्न करे, तो उसको भी नष्ट-भ्रष्ट कर देना उचित है, धर्म है। जापान के एक बालक की एक कथा लिखती हूं। जो बड़े बूढ़ों को भी शिक्षा देने के योग्य है। "अमेरिका के एक सज्जन जापान गये हुए थे। वे एक पाठशाला देखने गये। एक

बारह वर्ष के लड़के से उन अमेरिकन सज्जन ने पूछा—बुद्ध को तुम क्या समझते हो? लड़के ने कहा—ईश्वर का अवतार।

"तुम उनको पूजते हो?"

"हाँ।"

"कनफ्यूसियस को तुम क्या समझते हो?"

"सन्त।"

"उसको पूजते हो?"

"हाँ, उनकी मैं पूजा करता हूँ, उनके उपदेशों का आदर करता हूँ।"

"इनको यदि कोई गाली दे, तो तुम उसका क्या करोगे?"

"तलवार से उसका सिर काट लूँगा।"

"अच्छा, यदि कोई सेना तुम्हारे देश पर आक्रमण करने आ रही हो और बुद्धदेव तथा कनफ्यूसियस दोनों ही उसके सेनापति हों, तो तुम उस समय इन दोनों का क्या करोगे?"

"बुद्ध का गला काट लूंगा और कनफ्यूसियस को टुकड़े टुकड़े कर दूंगा।"

बस, यही घटना है। स्वाधीन देश के एक बालक ने मानवी सम्बन्ध के तारतम्य का जो निर्णय किया है, वैसा निर्णय हमारे देश के बड़े बूढ़ों से भी नहीं होता, यही दुःख की बात है। संसार के हमारे सम्बन्ध किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हैं। इन सम्बन्धों से उस उद्देश्य की सिद्धि

होनी चाहिए, यदि ये उसी में बाधक हुए, तब ये किस काम के? बुद्धदेव हमारे देवता हैं, आराध्य हैं। उनका और उनके उपदेशों का आदर करना जापानी बालक के लिए उचित है और वह ऐसा करता भी है। पर यदि वे ही बुद्धदेव उसके देश के साथ दुश्मनी करेंगे, तो वे भी उस जापानी लड़के के दुश्मन हो जांयगे। वह कहता है—"मैं उनका सिर काट लूंगा"। क्योंकि वे उसके देश के दुश्मन होकर आ रहे हैं। वे उसका, उसके परिवार का और साथ ही उसके देश के समस्त भाई-बहनों का नाश करने के लिए आ रहे हैं, वे उसके देश को पराधीन बनाने के लिए आ रहे हैं, वे उसकी प्राचीन सभ्यता, प्राचीन विशेषत्व को मिटाने के लिए आ रहे हैं। अतएव वे उसी जापानी बालक के शत्रु नहीं, परन्तु प्रत्येक जापानी बालक का कर्तव्य है कि वह उनका सिर काट ले; क्योंकि बुद्धदेव से जापानियों का जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्बन्ध है, अब वे स्वयं उस सम्बन्ध को तोड़ने आ रहे हैं। देवता की पूजा अर्चा इस लोक तथा परलोक के कल्याण के लिए ही तो की जाती है। वे ही देवता जब लौकिक कल्याण के मूल-देश का ही नाश करना चाहते हों, तो वे देवता किस काम के, वह तो देवता नहीं, दुश्मन हुआ। इसी से जापानी बालक उसका काम तमाम कर देना चाहता है। मेरा भी वही मार्ग है। मेरा पारिवारिक सम्बन्ध पति के लिए है।

मेरे पति इस परिवार में रहते हैं, इस परिवार के लोगों से उनका सम्बन्ध है, इस कारण मेरा भी इस परिवार से सम्बन्ध है। पर अब मैंने देख लिया है कि इस परिवार ने मेरे पति का अपमान किया है। इस परिवार के अधिष्ठाता मेरे पतिदेव को देखकर जलते हैं, वे उनके कार्यों को, उत्तम कार्यों को पसन्द नहीं करते। वे, मेरे देवता पति का इस-लिए अपमान करते हैं कि वह देशभक्त है, वह तपस्वी है, विलासी नहीं। उसके हृदय है, उसके आंखें हैं, माथा है। वह लोगों की दशा का अनुभव कर सकता है और करता है। वह अपने आसपास होनेवाली घटनाओं को ठीक ठीक देख सकता है और देखता है, तथा वह इनके प्रति अपना कर्त्तव्य निश्चित करना जानता है। ये ही तो हमारे पतिदेव के अपराध हैं। मैं अपने को भाग्यवती समझती हूँ कि मैंने ऐसा अपराधी (कुछ लोगों की दृष्टि में) पति पाया है। मुझे इसका गर्व है। उसका अपमान करनेवाला कोई भी हो, वह मेरा दुश्मन है। मैं घोषित करती हूँ, मैं उसका त्याग करूँगी। अपने धर्म के लिए, संसार की निन्दा सहूँगी, अनेक कष्ट उठाऊँगी, पर अपने धर्म का पालन करूँगी। किसीका भी कहना मैं नहीं मान सकती। स्वयं पति-देव भी आज्ञा दें, तो भी मैं न मानूंगी। मैं जानती हूँ

पति की आज्ञा माननी चाहिए, पर मैं यह भी जानती हूँ कि पति की आज्ञा से भी बढ़ कर स्त्री के लिए उसका धर्म है और वह है पति की आराधना। नाथ, यही कठिनाई है। यही स्त्री के कर्त्तव्य का महत्त्व है। मैं उस महत्त्व को समझती हूँ और उसीका पालन करनेजारही हूँ।

कुछ तो आप देख ही गये हैं। अच्छा कहिए, आपसे ये अधिक विद्वान्, बुद्धिमान् हैं, विवेकी हैं, जो आपको कर्त्तव्य बतलाते हैं? पिता होने से कोई ज्ञानी भी हो जाता है! उत्पादक होना योग्यता का चिह्न नहीं है। काला सुनार भी चमकीला गहना बना सकता है। काले हबशी भी चमकीले हीरे तयार कर सकते हैं, आबदार मोती निकाल सकते हैं। उत्पादक केवल अपनी उत्पन्न की हुई वस्तु से लाभ उठा सकता है, यदि उसमें बुद्धि हो, यदि वह उस वस्तु का उपयोग करना जानता हो। हमारे ससुर को यह सुयोग प्राप्त हुआ है, उन्होंने इससे लाभ भी उठाया है। पर अब तो जानबूझ कर उन्होंने वह घड़ा फोड़ लिया, जिसमें गंगाजल रखा रहता था। वह मिट्टी का था। एक झटके से फूट गया। सिर्फ़ अनार का तो धक्का लगा और वह इसी धक्के को न सह सका। भाग्य !!!

आपके जाने के बाद से प्रतिदिन इस घर में आपकी ही चर्चा होती है। वह बुरी नहीं। पर वह इसलिए की

जाती है कि मैं दुःखी होऊँ। अतएव आवश्यक, अनावश्यक आपकी निन्दा की जाती है। यहाँ के सभी बुद्धि-निधान मेरे दोषों को ढूँढ़ने में ही आजकल दिन-रात व्यस्त रहते हैं। मैं किसीसे कुछ बोलती हूँ तो उसकी नक़ल की जाती है, नक़ल करनेवाली स्वयं अम्माजी हैं। फूआजी भी इसमें योग देती हैं, पर गम्भीरता के साथ। ननदों ने भी इस समय रूप बदल दिया है। जगन्नाथ इस समय उदासीन हैं। वे घर में आते-जाते भी बहुत कम हैं। लोगों से बोलना-चालना भी उन्होंने बहुत कम कर दिया है। परसों आपकी तुलना नरेन्द्र से की जाती थी। महल्ले की दुर्गा भी आयी थी, उसने इस तुलना में प्रधान भाग लिया। वह तो महाभारत का जनमेजय बनी थी और अम्माजी वैशम्पायन। मैं भी वहीं थी। जब उन लोगों की बातों ने रंग पकड़ा तब मैं वहां से उठने लगी। मैंने उस समय यही उचित समझा। दुर्गा ने कहा—कहां जाती हो बहू, बैठो न ?

अम्माजी ने कहा—ये आजकल वह न रहीं। आजकल तो मानों हम लोग इन्हें काट खाती हों। हम लोगों की बातें इन्हें सुहाती ही नहीं। जब देखो तब नाक-भौं चढ़े ही रहते हैं। ऐसा कब तक इस घर में निबहेगा। अब ये भी कलकत्ता ही जांय।

मैं तो चली आयी। मुझे दुःख न हुआ। तभी से मैं

अपना कर्त्तव्य निश्चय करने में लगी हूं। मुझे अपने कठोर कर्तव्य का ध्यान है और आड़े आनेवाले विघ्नों को भी मैं जानती हूं। मुझे इसीका निश्चय करना है कि मैं इन विघ्नों पर विजय पा सकती हूं या नहीं। इनपर विजय पाने के कितने साधन मेरे पास हैं। वैसे साधनों की यदि मेरे पास कमी होगी, तो उनका पूर्ति मैं कर सकती हूं कि नहीं। इन्हीं बातों का विचार करना है। दो तीन दिन सोचूंगी, विचारूंगी। फिर जैसा निश्चय होगा, वैसा करूंगी। इस सम्बन्ध में मैं किसीसे सम्मति लेना नहीं चाहती। पिता, माता, भाई आदि से सम्मति तो लूंगी ही नहीं, आपकी सम्मति की भी इस समय मुझे दरकार नहीं है। सम्मति तो मैं तब लेती, जब मुझे आप लोगों की सहायता की आवश्यकता होती। पर वह बात नहीं। यह तो मेरा कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य के लिए दुःख उठाना है। इसमें कोई सहायता ही क्या दे सकता है? मेरा दुःख कोई कैसे बँटा लेगा? अतएव इस विषय में मुझे किसीकी सम्मति की आवश्यकता नहीं है।

नाथ, मैं जानती हूं इन बातों में बहुत सी बातें आपको न रुचेंगी। पर विवश हूं। आपके चरणों के पास रह कर जो मैंने सीखा है, पिता माता के आचरणों से जो कुछ मैंने जाना है, उनको मैं निरर्थक तो नहीं होने दूंगी।

उनको निरर्थक बनाकर अपना नारीजन्म तो कलङ्कित न करूंगी। मैं आजतक जो सीख सकी हूं, उसका मर्म यही है कि स्त्री के लिए पति से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। संसार में पति से बढ़कर यदि कोई वस्तु है, तो वह देश है। देश के लिए पति का भी त्याग किया जा सकता है देश-द्रोही पति छोड़ा जा सकता है। हमारे देश की स्त्रियों ने इस आदर्श का पालन किया है। जोधपुर की महारानी ने अपने पति महाराज यशवन्तसिंह को क्या कहा था? पर मेरा तो सौभाग्य है। मेरा पति देश-द्रोही नहीं, देशभक्त है और उसकी देशभक्ति का उसीके परिवार वाले अपमान कर रहे हैं। मैं यह कैसे होने दूंगी। पतिदेव सहना चाहें, सहें। उनको अधिकार है। मैं कैसे सहूंगी। मेरा धर्म तो मुझे सहने की आज्ञा नहीं देता। जिस प्रकार देश-द्रोही पति का मैं त्याग कर सकती थी, उसी प्रकार देशभक्त पति के लिए मैं सब कुछ त्याग कर सकती हूँ। वही करने का विचार है।

आप मेरे पति हैं, देवता हैं, मैं आपकी स्त्री हूँ, सर्वस्व हूँ। हमारा आपका सम्बन्ध सांसारिक कर्त्तव्यों के पालन के लिए है। मेरे कारण आपके कर्त्तव्यों में यदि बाधा आवे, तो आप मेरा त्याग कर सकते हैं। मुझे इसका कुछ कष्ट न होगा, क्योंकि उस समय

हम दोनों ही अपने अपने कर्त्तव्य में संलग्न रहेंगे। दुःख सुख की तो कोई बात नहीं। पति के त्याग करने पर उन स्त्रियों को रोना चाहिए, जिनका पति से वासना-पूर्ति का सम्बन्ध हो, जो स्त्रियां पति को इन्द्रिय-तृप्ति का साधन समझती हों। इसी तरह की बात पति के लिए भी होनी चाहिए। पर आपको और हमको मालूम है कि हम लोगों का ऐसा सम्बन्ध कुछ विशेष नहीं रहा है। यों तो मैं स्त्री हूँ, आप पति हैं। पर मुझे याद है, एक दिन भी आपने मुझे उत्तेजित करने का प्रयत्न न किया और न मैंने ही बनाव शृंगार करके आपको लुभाने की कोशिश की। पति-पत्नी होने पर भी हमारे पति को ब्रह्मचर्य का महत्त्व मालूम है और मैंने भी उसीके चरणों के पास बैठकर उस महत्त्व का दर्शन किया है। यदि ऐसा अवसर आवे, जब हमको और आपको अलग अलग रहना पड़े, तब मुझे तो इससे विशेष दुःख न होगा। सम्भवतः मैं विचलित न होऊँगी। शीघ्र ही एक दो दिनों के बाद मैं अपने निश्चय के अनुसार कार्य करूँगी और इसकी आपको सूचना दूँगी।

आपकी

......मा

---

(१२)

नाथ,

मेरे पत्र भेजने के ठीक चौथी सन्ध्या को आपका पत्र मिला। पत्र बहुत ही संक्षिप्त है। पर इतना स्पष्ट है कि उससे आपके हृदय की वर्तमान अवस्था का ठीक ठीक पता लगता है। इस समय आपके हृदय की कैसी दशा है, यह उस पत्र के पढ़ते ही मालूम हो जाता है। मेरे पत्र से आपके हृदय की ऐसी दशा हुई है ऐसा मालूम नहीं पड़ता। मालूम होता है कि आप पहले ही से दुःखी थे। आपका हृदय किसी वेदना से पहले ही से विह्वल था। उसी समय आपको मेरा पत्र मिला। मेरे पत्र ने आपके हृदय को और दुःखी बनाया। उस समय आप अपना कोई कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर सके थे। मुझे क्या करना चाहिए, इस बात का भी आपको ज्ञान उस समय नहीं हुआ। मुझे क्या करना चाहिए, अथवा आपको इस समय मेरे लिए क्या कहना चाहिए, क्या उपदेश देना चाहिए, आदि बातों का निश्चय करना भी उस समय

आपके लिए कठिन हो गया था, इसीलिए आपने लिखा, केवल इतना ही लिखा कि—"भावुकता और व्यवहार में विशेष अन्तर है। व्यवहार में आने पर भावुकता का रूप बदल जाता है। तुम जो निश्चय करो, इस बात को ध्यान में रखकर निश्चय करो। किसी भी उत्तम काम का प्रारम्भ करना आसान है। कठिन है उसकी समाप्ति। प्रारम्भ करने के लिए बहुत थोड़ी शक्ति की आवश्यकता होती है, पर प्रारम्भ किये हुए कार्य की समाप्ति तक पहुँचाने के लिए उससे कई गुनी अधिक शक्ति अपेक्षित होती है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि कार्य प्रारम्भ करने के पहले अपनी शक्ति को ख़ूब टटोल ले। अपनी इच्छा को ख़ूब जाँच ले, अपने को ख़ूब परख ले, जिससे उसे बीच रास्ते से ही लौटना न पड़े। उसे अपना प्रारम्भ किया हुआ कार्य बीच ही से छोड़ना न पड़े।" बस आपके पत्र में इतने ही वाक्य हैं। प्राणेश्वर, आपके उपदेश अनमोल हैं। इसके पहले जो पत्र मैंने आपको भेजा है, उसी समय से मैं इस बात पर विचार कर रही हूँ कि क्या इस कठोर व्रत का पालन मैं कर सकूंगी। परिवार तो आसानी से छोड़ा जा सकता है। इससे मेरा सम्बन्ध ही क्या है। सिर्फ़ इन लोगों के साथ रहती हूँ। रहने का स्थान तो बदला जा सकता है। एक घर छोड़कर आदमी दूसरे घर में जाकर बस सकता है। पर भय मालूम होता है कि यदि घर

के साथ ही घर के मालिक को छोड़ना पड़ा तो ? क्या मैं आपको छोड़कर रह सकती हूँ ? यही सोच रही हूँ और इसका कुछ निश्चय नहीं होता। जब जब मैं इस विचार को सामने लेकर निर्णय के लिए बैठी हूँ, तब तब मेरा हृदय विचलित हो गया है। मैं कुछ निश्चय नहो कर सकी हूँ। उस समय बुद्धि ही कुन्द हो जाती है बात क्या है, कुछ पता नहीं लगता है। यदि इसका मुझे विश्वास हो गया कि आपको त्याग न करना पड़ेगा, तब तो मेरा कर्त्तव्य आज ही निश्चित होजाय। कोई अड़चन ही न रहे। मुझे अपने किसी काम में भी तबदीली न करनी पड़े, पर मैं अभी तक इसका निश्चय नहीं कर सकी हूँ। यदि मैं इस घर का, साथ ही इस परिवार का त्याग करूँ और आपके साथ रहने लगूँ तो इसका अर्थ होगा कि आप भी मेरे साथ ही इस परिवार को छोड़ें। यह आपके लिए उचित होगा या अनुचित, यह मैं नहीं जानती। मैं सोचती हूँ कि इस परिवार से मेरा सम्बन्ध न हो, पर आपका तो है ? मुझे तो केवल अपना स्थान छोड़ना होगा, और आपको अपना परिवार। माता, पिता, भाई, बहिन साथ ही घर इन सबका त्याग करना होगा। क्या आपको मेरे लिए, एक स्त्री के

लिए इन सब का त्याग करना चाहिए ? क्या मैं आपको इसके लिए कह सकती हूँ ? मुझे ऐसा कहना चाहिए ? इन्हीं बातों को सोच रही हूँ। पर अभी तक कुछ निश्चय नहीं कर सकी हूँ ।

यह अवसर आज मुझ ही पर नहीं आया है। बहुतों पर आया ही करता है। मेरे ही समान अधिकांश, स्त्रियों की ऐसी ही दशा है। वे दुःख से तलफा करती हैं। पर अपना कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर सकतीं। यह मैं जानती हूँ कि उनके दुःखों के भिन्न भिन्न कारण हैं। पर वे भी दुःखिनी हैं, इसमें सन्देह नहीं। मैं तो इतनी उछलकूद मचा भी रही हूँ। इस दुःख के हटाने के लिए उपाय भी सोच रही हूँ और उपाय के मिल जाने पर उसके करने का भी विचार कर रही हूँ, पर वे तो चुपचाप उन दुःखों को उठा रही हैं। उनके ध्यान में एक दिन के लिए तो क्या, एक क्षण के लिए भी यह बात नहीं आयी है कि मुझे इस दुःख के दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उनका विश्वास है कि यह दुःख मेरे अपने अभाग्य से हो रहा है। यह अमिट है, टाला ही नहीं जा सकता। पर मैं ऐसा नहीं सोच सकती। मैं अपने को अभागिनी क्यों समझूं। कोई कारण भी तो हो। सुख के सभी साधन तो हैं, तो क्या यही अभागिन का चिह्न है ? कौन कहता है, मैं तो

ऐसा नहीं समझ सकती। मैं तो इन दुःखों को आकस्मिक समझती हूँ। मुझे मालूम होता है कि हम लोगों का वैसे परिवार से सम्बन्ध है, जिसके व्यक्तियों के विचार हमारे विचार से भिन्न हैं। अब हमारे लिए दो ही गति हो सकती हैं। एक तो यह कि मैं उन्हींके विचारों के अनुकूल अपना विचार बना लूं। अपने विचारों को उन्हींके विचार में मिला दूँ। अपनी सत्ता मिटाकर उनको आत्म-समर्पण कर दूँ। दूसरी गति यह है कि अपने विचारों की रक्षा के लिए उनका साथ छोड़ दूँ। दोनों ही उपाय कठिन हैं। मैं अपने विचार छोड़ कैसे सकती हूँ? अपने विचारों को बदल देना तो अपने अस्तित्व का लोप करना है। यदि मेरे विचार अवैध होते, यदि समाज से निन्दित होते, यदि समाज के लिए हानिकारी होते, तो मैं उन्हें अवश्य छोड़ती, उत्साह से छोड़ती और छोड़ कर प्रसन्न होती। पर वैसी बात तो नहीं है। मेरे विचार समाज के लिए हानिकारी नहीं, किन्तु लाभकारी हैं। मेरा कोई नया विचार तो है नहीं। देश के बड़े बड़े त्यागी विद्वान् जो काम करते हैं, वही मैं भी करना चाहती हूँ। उनकी आज्ञा से, उनके आश्रय में रह कर; देश के प्रति, समाज के प्रति और अपने देश के भाई-बहनों के प्रति जो मेरा कर्तव्य है, उसीका पालन करना चाहती हूँ। मेरे पतिदेव जिस मार्ग में जा रहे

है, मैं भी उसी मार्ग की अनुगामिनी हूँ। फिर, मैं छोड़ूँ क्या और कैसे? क्या वे विचार मेरे हैं? हाँ, वैसे विचारवालों का साथ छोड़ सकती हूँ। शरीर के लिए आत्मा का हनन तो मूर्खता का काम है। मैं वैसी मूर्खता नहीं कर सकती। बस, अब दूसरी बात रह जाती है, अपने विचारों की रक्षा के लिए परिवार का त्याग करना। पर यह मार्ग भी सीधा नहीं है। इसकी कठिनाई है—इस परिवार में आप का होना। कहींइस परिवार के साथ आपको भी छोड़ना पड़ा तो?

अब मेरे सामने मुख्य कठिनता यह है कि मैं आपको छोड़ सकती हूँ कि नहीं। आपसे और मुझसे विचार-भेद तो है नहीं। दूसरा भी कोई कारण नहीं है कि जिससे मैं आपको छोड़ने के लिए तयार होऊँ। मैंने ये विचार तो आप ही से सीखे हैं। ये तो आप ही के विचार हैं। इनकी रक्षा करना जैसा मेरा कर्त्तव्य है, वैसा ही आप का भी तो है। मैं तो इन विचारों की रक्षा करके आपकी सेवा कर रही हूं। इसलिए आपके अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है। सेविका पर कोई नाराज़ होता है? और उस सेविका पर, जो अपने अनुकूल हो! अतएव मुझे इसका पता तो नहीं है कि इन विचारों के कारण आपका मुझ पर रोष होगा और आप मेरा त्याग करेंगे। पर मैं आपका क्यों त्याग करूँ?

आपका अपराध ? स्वामी का त्याग तो सेवक को नहीं करना चाहिए। गुरु का त्याग करनेवाला शिष्य उत्तम नहीं समझा जाता। सन्मित्र का त्याग करनेवाला मित्र पतित है। ओह ! कितनी बड़ी कठिनाई है, मैं तो अभी तक अपना कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर सकी हूँ।

प्रियतम, आपकी कृपा से मैं जानती हूँ कि भावुकता में और व्यवहार में अन्तर है। चित्रकार की सृष्टि जैसी सुन्दर होती है, वैसी सुन्दर विधाता की सृष्टि नहीं होती; क्योंकि चित्र-निर्माण में चित्रकार को जैसी स्वाधीनता प्राप्त है, वैसी विधाता को नहीं। अतएव विधाता अपनी इच्छा के अनुसार सृष्टि रचना नहीं कर सकते। पर चित्रकार के लिए ऐसी बात नहीं है। रङ्ग उसके पास है, क़लम उसके हाथ में है। यदि वह कुशल हुआ तो अपनी कल्पना में रङ्ग भर कर उसे सुन्दर बना सकता है और बनाता है। भावना अपने वश की बात है। उसका शरीर शब्दों का बना होता है। जिस भावुक के पास शब्दों का भण्डार है, उत्तम उत्तम शब्दों का ख़ज़ाना है, वह अपनी भावना को सुन्दर से सुन्दर बना सकता है। पर व्यवहार के लिए यह बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तो बहुतों से है। उसका तो ठोस रूप होता है। वह तो एक क्रिया है। जन-समाज के सङ्घर्ष में से होकर उसे निकलना पड़ता है। फिर उसका रूप वैसा सुन्दर कैसे

रह सकता है ? पर जीवितेश्वर, यदि भावना ही व्यवहार में लायी जा सके, तो वह व्यवहार कितना सुन्दर हो। बस, यही चाह है। मैं चाहती हूँ कि मेरी भावना की रक्षा हो। ओह, वह कितनी प्रिय है ! कितनी सुन्दर ! अभूतपूर्व ! उसकी कोमलता एक अनुभव की चीज़ है। मेरे सामने उसका रूप बिगड़ जाय। मैं उस व्यवहार से उसको अलग रखना चाहती हूँ, जिसके कठोर धक्के से उसका रूप बिगड़ जा सकता है। प्रियतम, आप बतलाइये, भगवान् बल दें।

जिस दिन मैंने आपको पत्र भेजा था, उसी दिन प्रातः-काल लखनऊ से मेरी भाभी की मिसिराइनीजी आयी थीं। दो दिन रह कर यहाँ से गयीं। मैंने उनसे यहाँ की कोई बात नहीं कही थी, कोई पत्र भी नहीं भेजा। पर वे तो ठहरीं पक्की उस्ताद, उनकी तेज़ आँखों से यहाँ की हालत छिपी न रह सकी। उन्होंने जाने के दो तीन घण्टे पहले मुझसे पूछा था—क्यों शशी, आजकल तुम्हारी सास तुम पर नाराज़ हैं क्या ?

मैंने कहा—"मुझे तो मालूम नहीं। क्यों, क्या कुछ कहती थीं ? उन्होंने कहा—मुझसे क्यों कहने लगीं ? पर मैंने अब की बार उनके जो रंग-ढङ्ग देखे, उससे मालूम होता है कि दाल साफ़ नहीं है, है इसमें कुछ काला।

मैंने कहा—"तुम्हारी समझ की बलिहारी।" मैं चुप हो गयी। उन्होंने भी कुछ नहीं कहा। मालूम होता है, यहां से जाकर

अपनी कल्पना दृष्टि से यहां की देखी या जानी बात, उन्होंने मेरी भाभी से कही है। मालूम होता है, उनकी बातों से भाभी भयभीत होगयी हैं और उन्होंने यहां की चर्चा अपने ढंग से मेरे भैया से और माता से भी की है। इसका फल यह हुआ है कि कल सन्ध्या को लखनऊ से एक आदमी फिर आया। कुछ कपड़े और खरबूज़े लेकर आया। मेरे नाम से दो पत्र भी वह ले आया है। पर वह पत्र उसने बाहर किसी को नहीं दिये। रात को जब वह भोजन करने भीतर आया, तब उसने नौकरानी को बुलाकर वे लिफ़ाफ़े दिये और मेरे हाथ की लिखी रसीद माँगी। आँगने में ही तो उसने लिफ़ाफ़े दिये थे। इसलिए वह नौकरानी लिफ़ाफ़ा लेकर सीधे मेरे कमरे में आयी और लिफ़ाफ़े दे गयी। उस समय मेरे पास कोई नहीं था। पर लिफ़ाफ़ा देकर नौकरानी के जाने के दो ही तीन मिनट बाद, यशोदा आयी। मै समझती हूँ कि वह आयी थी लिफ़ाफ़े का पता लगाने। लिफ़ाफ़े में क्या है, इस बात को जानने के लिए वह स्वयं आयी होगी या किसीने भेजा होगा। पर उसका अभिप्राय यही था, इसका मुझे निश्चित विश्वास है; क्योंकि वह सीधे मेरे पास आगयी। लगी देखने कि मेरे हाथ में क्या है। मैं उस समय रसीद लिख रही थी। उसने बड़े ध्यान से देखा कि मैं क्या लिख रही हूँ। उसने समझा होगा कि लिफ़ाफ़े

में क्या है, यह बात भी रसीद में लिखी होगी। पर उसे निराश होना पड़ा होगा, क्योंकि उस समय तक तो मैंने लिफ़ाफ़ा खोला ही नहीं था, उसमें क्या है यह लिखती कैसे ?

उसने पूछा—लिफ़ाफ़े कहाँ हैं ?

मैंने कहा—रखे हैं।

"उनमें क्या है ?"

"अभी खोले नहीं हैं।

"दो, खोलें।"

"तुम्हारे नहीं है"

उसका चेहरा उतर गया। वह चली गयी। मैं तो यह पहले ही से जानती थी। पर मैं तो अब इन लोगों की परवा नहीं करती। भय भी नहीं है। इसीलिए मैंने ऐसा आचरण किया। और समय तो मैं लिफ़ाफ़े, अपने पत्र, उन लोगों को दे दिया करती थी। विश्वास था, उन्हें मैं अपनी समझती थी। वे मुझसे मिली थीं, मैं भी मिलना चाहती थी। पर आज वह बात नहीं है। उनका हृदय मुझसे अलग होगया। वे मुझसे मिलती हैं, मेरी बातें जानने के लिए। वे मेरी ओर से शङ्कित हैं, भयभीत हैं, अतएव वे मेरे प्रत्येक कार्य को भय की दृष्टि से देखती हैं। इसीलिए वे पता लगाती फिरती हैं। मैं उनके ऐसे काम में सहायता क्यों दूं, अपने ही विरोध में उपयोग में लायी जाने वाली युक्ति को पुष्ट क्यों करूं ?

मैंने रसीद लिखकर उसके पास भेज दी। भोजन के समय अम्माजी ने कहा—तुम्हारे लिफ़ाफ़े में क्या है, यह यशोदा को तुमने बतलाया क्यों नहीं? मैंने कहा—अभी तक तो मैंने लिफ़ाफ़े खोले नहीं, बतलाऊँ कैसे?

उन्होंने कहा—खाकर खोलना और इसे बतला देना। मैंने कहा—वे लिफ़ाफ़े मेरे मैके से आये हैं। एक भाभी का भेजा है और दूसरा मेरी माता का। यदि उसमें कोई ऐसी चीज़ हो, जो छिपाकर उन लोगों ने भेजी हो, वे उन चीज़ों को अपने घरवालों से तथा यहाँवालों से छिपा रखना चाहती हों, तो?

उन्होंने कहा—यहाँ किससे छिपाया जायगा, छिपाने की ज़रूरत!

मैंने कहा—ज़रूरत तो कुछ नहीं है, केवल इच्छा है। उनकी यदि इच्छा हो कि मेरे अलावा कोई दूसरा न जाने, तो?

इस पर उन्होंने कहा—अच्छा अब मैं कहती हूँ कि उन लिफ़ाफ़ों में क्या है, यह बतलाओ?

अब बात साफ़ होगयी। मुझे मालूम होगया कि यशोदा उन लिफ़ाफ़ों की बातें जानने के लिए उतावली नहीं है, उतावली हैं अम्माजी। उन्होंने सोचा होगा कि मेरा नाम सुनते ही यह डर जायगी, शरमायगी और बतला देगी।

आज तक ऐसा ही होता आया है। अब नहीं हो सकता। मैंने साफ़ जवाब दे दिया—"मैं न बतलाऊंगी।"

"क्यों ?"

"मेरी इच्छा।"

अम्माजी ने मुझसे ऐसे उत्तर की आशा न की होगी। इससे उनको बड़ा क्रोध आया होगा। उन्होंने इस बात को अपनी शान के खिलाफ़ समझा होगा। इसीसे "मेरी इच्छा" इस बात के सुनते ही वे चुप होरहीं। एक शब्द भी उन्होंने नहीं कहा। मेरे प्राण बचे। मैं खाकर अपने कमरे में चली आयी और किवाड़ बन्द कर लिये।

मैं इस झमेले को उठाना नहीं चाहती तो नहीं भी उठा सकती थी। टाल देती, बहाली बतला देती। पर वैसा करना मैंने उचित नहीं समझा। मैं तो चाहती हूँ कि वे मुझपर अधिक से अधिक नाराज़ हों, अधिक से अधिक मुझे पीड़ा पहुँचावें, जिससे मेरा इनसे द्वेष हो जाय। ज़बरदस्त द्वेष हो, जिससे ये मेरा मुँह देखना पसन्द न करें और मुझे इनका मुँह देखना पाप मालूम पड़े। ऐसी दशा में सीधी राह छोड़ कर मैं टेढ़ी से क्यों जाऊं।

मैंने रात को ही लिफ़ाफ़े खोले। भाभी का इतना संक्षिप्त पत्र मुझे कभी नहीं मिला था। उन्होंने लिखा है—"पांचसौ रुपये भेजती हूँ। चिन्ता मत करो, मैं तुम्हारा साथ कभी न

छोड़ूंगी। जहां तुम, वहां मैं। तुम भी बाप की बेटी हो, मैं भी हूं। तुम पति की प्यारी बुलबुल हो और मैं हूं अपने शौक़ीन दुल्हा की मालकिन। साथ ठीक रहेगा। ये रुपये तुम्हारी भेंट हैं। अब ऐसा ही चलेगा।"

माता ने आशीर्वाद लिखा है और आने के लिए लिखा है। तीन सौ रुपये भी भेजे हैं।

इन रुपयों की ज़रूरत मैं समझ नहीं रही हूं। पर आये हैं, तो लौटाऊँगी भी नहीं। कम से कम इस समय तो ये मेरे ही पास रहेंगे। शायद कुछ काम आजांय। मेरी दशा कल क्या होगी, इसका तो निश्चय नहीं है।

प्राणेश्वर, आपको मैंने बहुत दुःख दिया। इसका क्या परिणाम होगा, यह मैं नहीं जानती। मैं एक बात पूछना चाहती हूं—"आप अपने विचारों की रक्षा के लिए कितना त्याग कर सकते हैं? लोक-निन्दा सह सकते हैं? पिता-माता का त्याग कर सकते हैं? मैं प्रार्थना करती हूँ, इस बात का ठीक ठीक उत्तर दें। इसी प्रश्न के उत्तर पर मेरा भविष्य कार्यक्रम तयार होगा। मैं निश्चित कर सकूंगी कि आगे के लिए मैं क्या करूंगी।

सुना है कि मेरे ससुर ने उस आदमी को इसलिए डांटा था कि उसने लिफ़ाफ़े भीतर क्यों दिये। इस बात को सुन कर मैं भयभीत होगयी हूं। मुझे तो इनसे ऐसी आशा न थी।

ये तो बड़े हैं। इन्हें तो अपने बड़प्पन की रक्षा की चिन्ता होनी चाहिए। वह आदमी यहां से जाकर ये बातें जब हमारे घरवालों को सुनावेगा, तब वे लोग क्या समझेंगे? इनके विषय में वे क्या ख़याल करेंगे? सच है क्रोध और अहङ्कार से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। सन्देह हो रहा है मामाजी ने इन्हीं बातों की ओर तो सङ्केत न किया था। आजकल जो इनके कार्यक्रम हैं, उनको देखते इस बात का विश्वास कर लेना युक्तहीन न समझा जायगा कि हमारे घर में कोई ऐसी घटना होने वाली है जिससे बहुत बड़ा परिवर्तन हो जायगा।

आपकी

.........भा,

---

(१३)

नाथ,

अब तो जी ऊब गया है। एक ही बात रोज़ रोज़ लिखी भी नहीं जाती। जब लिखनेवाले की यह दशा है, तब पढ़नेवाला एक ही तरह के पत्रों को पढ़कर कैसे प्रसन्न होता होगा। नित्य के होनेवाले कामों का तो अभ्यास हो जाता है। नवीनता न रहने पर भी मनुष्य उन कामों को करता है, क्योंकि उसे उन कामों का अभ्यास रहता है। समय समय पर उसके द्वारा वे काम होजाते हैं। चाहे सर्दी हो या गर्मी, प्रातःकाल स्नान करनेवाला स्नान कर ही लेता है। भेद सिर्फ़ यह होता है कि गर्मी के दिनों में वह शौक़ से नहाता है और सर्दी के दिनों में ज़रा तकलीफ़ होती है। ऐसे ही खाना-पीना आदि के सम्बन्ध में भी होता रहता है। समय पर भूख लगती है और मनुष्य कोई न कोई उपाय करके कुछ न कुछ खा ही लेता है। कोई ज़्यादा खाता है और कोई कम। कोई अच्छा खाता है, कोई साधारण। पर

खा लेते हैं सभी। ये नित्य के होनेवाले काम हैं। आपही आप हो जाते हैं। ऐसे कामों की नवीनता तथा विशेषता की आवश्यकता नहीं होती। कोई इन बातों को सोचता ही नहीं। पर पत्र के लिए तो यह बात नहीं है। वह तो लिखा जाता है किसी काम के लिए। किसी ज़रूरत के लिए। पत्र लिखनेवाला समझता है कि मेरे पत्र की बातों पर ध्यान दिया जायगा। मैंने जो बातें लिखी हैं, पढ़नेवाला उन्हें पढ़ेगा और इस पत्र में जो इच्छा मैंने प्रकाशित की है; उनकी पूर्त्ति के लिए यथासाध्य प्रयत्न करेगा। पत्र लिखनेवाले की साधारणतः यही इच्छा रहती है। अतएव पत्रों में नवीनता आवश्यक है। पर दुःख है, मेरे पास कोई नवीन बातें नहीं हैं। फिर, मेरे पत्रों में नवीनता आवे कहां से। मैं तो अपनी ज़रूरत की ही बातें न लिखूंगी? उसमें नवीनता हो या न हो। जिस बात की मुझे ज़रूरत न हो, वह बात भले ही नवीन हो, मेरे किस काम की? उसको लिखकर मैं क्या करूंगी। हमारी भलाई तो उसीसे है, जो हमारे काम की है। नवीन ही हो, किसी प्रकार की ख़ास विशेषता रखने वाली ही हो, पर मेरे मतलब की न हो, ऐसी बात लिखकर मैं क्या करूंगी, वह तो मेरे लिए व्यर्थ है।

अतएव मुझे तो अपने मतलब की ही बातें लिखनी पड़ेंगी और वही लिखती भी हूँ। इनमें कोई विशेषता नहीं है,

कोई नवीनता नहीं है। पर ये मेरे काम की हैं। मेरे लिए नितान्त आवश्यक भी हैं। अतएव मैं प्रार्थना करती हूँ कि आप इस पत्र को अवश्य पढ़ें, ध्यान से पढ़ें। यह इसलिए कहती हूँ कि मेरे जीवन का क्रम अब शीघ्र ही बदलनेवाला है। उसका रूप कैसा होगा, इसका अभी पता नहीं है। पर बदलेगा, इसका निश्चय है। अब मैं प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे पत्रों को पढ़ें, विशेषता न हो, न सही, नवीनता भले ही न हो, पर आप मेरे पत्र पढ़ें अवश्य। मेरे जीवन में क्या परिवर्तन होता है, यह आपको जान लेना चाहिए, आप भले ही जानना न चाहते हो, पर मैं जनाना चाहती हूँ। मेरी ऐसी ही इच्छा है।

कल प्रातःकाल आपको मैंने पत्र लिखा है। आज उसके ठीक चौबीस घंटों के बाद पत्र लिख रही हूँ। ऐसी ज़रूरत ही आ पड़ी है। मैं तो इस समय एक विकट मानसिक रोग से गिरफ़्तार हो चुकी हूं। घण्टे घण्टे पर अवस्था में परिवर्तन होता है। इन सब उलट-फेरों का ज्ञान रखना आपके लिए आवश्यक है। मैं आपको जना देना चाहती ही हूँ। अपने अन्तःकरण के बाद आप ही एक व्यक्ति हैं, जिन्हें अपने सब समाचार मुझे बतला देने चाहिए, क्योंकि आपके साथ मैं धार्मिक बन्धन से बँधी हूं। उस बन्धन के तोड़ने का कोई अवसर भी नहीं आया है, कोई कारण भी नहीं है। मैं उसे

तोड़ना भी नहीं चाहती। इस बात के सोचते ही मेरा कलेजा काँपता है। अतएव मैं फिर प्रार्थना करती हूँ कि आप आज कल के मेरे पत्र अवश्य पढ़ें। समय न रहे, इच्छा न रहे, तो भी पढ़ें। आप यह न समझें कि ये पत्र अनर्थक हैं, नवीनता-हीन हैं। अजी, कोई बात भी अनर्थक होती है? लोग पागलों की बातों को अनर्थक समझते हैं। पर वे क्या सचमुच अनर्थक हैं? मैं तो ऐसा नहीं समझती, वे अनर्थक तो तब होतीं, यदि उस बात को कहने वाला पागल, उनके अनुसार काम न करता। पर ऐसी बात तो नहीं है। यह ठीक है कि वह अपनी सभी बातों का पालन नहीं करता है। पर उसकी भी तो कितनी ही बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें वह कर के दिखा देता है। जो लोग पागल नहीं हैं, उनकी भी तो यही दशा है। वे क्या अपनी सब बातों का पालन करते हैं, जो जो वे कहते हैं, क्या सब करते हैं? ऐसी बात तो नहीं है, पर इनकी तो बातें अनर्थक नहीं कही जातीं, क्योंकि ये पागल नहीं हैं। यह तो चाल की बात है, यथार्थ तो नहीं, क्योंकि पागल भी अपनी बहुत सी बातें पूरी करता है, फिर जिन बातों को वह पूरी करता है, वे अनर्थक क्यों कही जा सकती हैं? मैं जो करने जा रही हूँ, उस काम को प्रकाशित करनेवाले शब्द अनर्थक क्योंकर हो सकते हैं। पागलों की बातों के लिए यदि कुछ कहा जा सकता है, तो अधिक से अधिक यही कि ये

बातें ऐसी हैं जिन्हें सर्वसाधारण पसन्द नहीं करते, तो इस से क्या हुआ? औरों ही का काम क्या सब को पसन्द होता है? खद्दर पहनना देश के लिए मंगल है, चर्खा चलाना निकम्मे पुरुषों और स्त्रियों के लिए आनन्ददायक है, यह बात तो सिद्ध हो चुकी है। तर्क से भी, अनुभव से भी। तो क्या सभी खद्दर पहनते हैं? आज भी बहुत लोग उसकी बुराई करने के लिए तयार हैं और बुराई करते भी हैं। कहा जाता है कि उनकी ऐसी ही समझ है। उनका यही मत है। अच्छा मत है। मैं इस सम्बन्ध में तर्क करने नहीं बैठी हूँ। मैं तो केवल यह कहना चाहती हूँ कि जब समाज और देश को हानि करनेवाले काम समझ और मत के बल पर सार्थक साबित किये जासकते हैं, तब मैं अपनी समझ के अनुसार जो करने जा रही हूँ, वह अनर्थक कैसे हो सकता है? मेरी समझ जैसी है, वैसा ही करती हूँ, बस, वह सार्थक है। पागल भो तो वैसा ही करता है। उसकी भी तो समझ है। आप उसे उलटी कह सकते हैं। पर समझ होने से इन-कार नहीं कर सकते। फिर उसका काम अनर्थक क्यों। आप कहेंगे कि वह पागल है। ठीक है, पागल से पूछिये, वह क्या कहता है?

आज सवेरे दरबारी की दुलहिन आई थी। लगभग नौ बजने का समय था। बहुत ही घबराथी हुई थी। कल

गाँव में मेरे सम्बन्ध में कुछ बातें फैलायी गयी हैं, या फैलाने का प्रयत्न किया गया है, उसीकी खबर वह मुझे सुनाने आयी थी। मैं नहीं जानती थी कि लिफ़ाफ़ों की बात इतना रङ्ग लायेगी और सो भी इतनी जल्दी, इसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी। कल्पना तो अपने हृदय के भावों के अनुसार की जाती है। मैं समझती हूँ कि इस परिवारवालों के प्रति मेरा हृदय अभी बहुत दूषित नहीं हुआ है। यदि वह दूषित हुआ रहता तो मैं अवश्य ही इस बात की कल्पना क्या, विश्वास कर लेती। मैंने समझा था कि लिफ़ाफ़ों की बात यहीं तक रह जायगी। अम्माजी कुछ नाराज़ हो जायँगी, बकझक लेंगी, हमसे बोलना बन्द कर देंगी। बस, मैंने यह नहीं समझा था कि लिफ़ाफ़ों की बात गाँव में फैलायी जायगी, सो भी विकृत रूप में। बिलकुल असत्य। हे नारायण, मनुष्य इतना पतित भी हो सकता है। ब्राह्मण-परिवार में ऐसी नीचता कैसे आयी! सुनिए, अम्माजी की सहेली दुर्गा तथा इसी तरह की दो तीन और औरतों ने जहाँ तहाँ लोगों से कहा है "बहू के पास दो पत्र आये थे। लखनऊ से आये थे। किसीने छिपाकर भेजे थे। बिलकुल ही गुप्त थे। नौकर लेकर आया था और उसने वे पत्र खास बहू के हाथ में दिये थे। कुछ बातें भी उसने की थीं।" इस रूप में घटना का वर्णन करके उन लोगों ने इसपर अपनी

टिप्पणी की। उन लोगों ने कहा—"वहाँ के यार-दोस्तों के यहाँ से वे पत्र आये थे।" दरबारी की दुलहिन कहती थी कि इस पर सुननेवाली स्त्रियों ने उन्हें बहुत डाँटा। उनमें एक ने कहा—ऐसी देवी के लिए जिसके मन में पाप घर करेगा, उसका नाश हो जायगा। वैसी लड़की हम लोगों ने देखी तो थी ही नहीं, सुनी भी नहीं, जो घर में सब रहने पर भी दूसरों के दुःख से दुःखी रहती है। ओह, ऐसी सुशील, इतनी धर्मात्मा के लिए ऐसी बात मन में कौन ला सकता है, हे भगवान्! उन्हींमें से किसीने दुर्गा से पूछा—"तुमने ये बातें कैसे जानी?" दुर्गा तो पहली ही फटकार से सिटपिटा गई थी, पर जो उसने कहा था उसका समर्थन भी उसे करना ही चाहिए था। इसीलिए उसने कह दिया कि मैंने अपनी आँखों देखा है। इस पर वहां जितनी स्त्रियां बैठी थीं, सभी हँसने लगीं। दुर्गा की साथिनें भी चुप हो रहीं। यह मण्डली जुड़ी थी महल्लेवाले वकील साहब के घर। वकील बाबू की स्त्री या बेटी वहां पहले से नहीं थी। कहकहा सुनकर उनकी बेटी वहां आयी। उसके कारण पूछने पर सब लोगों ने दुर्गा की कही बातें कह सुनायीं। वह बहुत ही नाराज़ हुई। उसने दुर्गा को गालियां दीं। उसके चरित्र का वर्णन किया। बेटी चिल्ला चिल्लाकर बोल रही है, यह सुनकर वकील बाबू की स्त्री भी वहां आगयीं। उन्होंने भी कारण पूछा। बेटी ने सब बतला

दिया। उन्होंने दुर्गा से कहा— 'यह भले आदमियों का घर है। मैं तुम्हें जानती हूं। तुम्हारी सब बातें सुन चुकी हूं। तुम्हारी आदतों से भी जानकार हूं। फिर भी मैं तुम्हें आने देती हूं। क्यों, यह न पूछो। पर आज तुमने जो अपराध किया है, उसे मैं सह नहीं सकती। उस लड़की को मैं जानती हूं। उसे मैं अपनी बेटी समझती हूं। मैं अपनी बेटी को उसके पास भेजती हूं कि यह भी उससे कुछ सीखे। मैं ख़ुश होती, यदि उससे कुछ स्वयं सीख पाती। पर अभाग्य, मैं उससे कुछ सीख न सकी। इच्छा रहने पर भी सीख न सकी। मुझे उसकी माता पर कभी कभी डाह होती है कि उसने ऐसी लड़की क्यों पैदा की और मैंने क्यों न पैदा की। दुर्गा, तुमने आज बड़ा अपराध किया है। उस साक्षात् देवी पर अपराध लगाया है। तुम बड़ी ही पापिन हो। तुम्हें इसका दण्ड मिलेगा"। दुर्गा की बुरी दशा थी। मुक़ाबिला था वकील साहब की स्त्री का। दुर्गा अपनी रक्षा का कोई उपाय न देख सकी। उसने घबरा कर कहा—क्या मैं देखने थोड़े ही गयी थी? ब्रजकिशोर बाबू की स्त्री (मेरी सास) ने तो मुझसे कहा है। इस पर वहाँ की स्त्रियों ने दुर्गा से पूछा कि तुम तो पहले कहती थीं कि मैंने स्वयं देखा है। वकील साहब की स्त्री चुप रहीं। उनका

चेहरा लाल होगया, आँखों के कोने में आँसू दीख पड़े। थोड़ी देर तक वैसी ही वे खड़ी रहीं। पुनः उन्होंने कहा—"दुर्गा तू यहाँ से जल्दी चली जा, फिर न आना। जल्दी कर, नहीं तो निकलवा दूँगी"। इतना कह कर वे चली गयीं। सभा भङ्ग हो गयी।

दरबारी की दुलहिन मेरे कमरे में आकर ये सब बातें मुझसे कह रही थी। मेरा ध्यान तो उसी की ओर था। बीच बीच में बाहर की ओर भी कनखियों से मैं देख लिया करती थी। मुझे मालूम हुआ था और ठीक मालूम हुआ था कि मेरे कमरे के द्वार पर कोई खड़ा है और छिपकर खड़ा है। इच्छा हुई, चलकर देखूँ कि कौन है। पर उठा नहीं गया, मालूम हुआ कि किसीने मेरे पैर ही पकड़ लिये। शर्म मालूम हुई। क्या ज़रूरत है कि दूसरे छोटे काम करते हैं, तो मैं भी करूँ। बुरे काम करने का भी एक प्रकार का साहस होना चाहिए। जिसे नीति की हिचक न होगी, जो धर्म के बन्धन को न मानेगा, जिसे अपनी पद-मर्यादा का ध्यान न होगा, वही तो बुरे काम कर सकता है। बुरे कामों को भी अपनी स्वार्थ सिद्धि का साधन बना सकता है। मैं यदि उठकर उस समय बाहर जाती, तो अवश्य ही श्यामा को या अम्माजी को अपने द्वार पर

खड़ी पाती और मुझे देखते ही वे वहाँ से भागतीं। कैसा मज़ा आता? वे कितनी लज्जित होतीं? कम से कम उस दिन तो वे मुझे अपना मुँह नहीं दिखा सकतीं। मैंने चाहा भी कि ऐसा ही करूँ, पर कर न सकी। मुझे मालूम हुआ कि इच्छा को स्वभाव ने दबा लिया।

दूसरी स्त्रियाँ दरबारी की दुलहिन को ऐसे समय में चुप रहने को कहतीं। वे ऐसा प्रयत्न करतीं, जिससे किसी को मालूम न होता कि वह क्या कह रही है। क्या करने आयी है। उसे कुछ चीज़ दे देतीं और असली भेद छिपाकर उससे कहतीं कि यह यही माँगने आयी थी, लोग भी विश्वास कर लेते, कोई कोई न भी करते। पर मैंने इस मार्ग पर चलना भी उचित नहीं समझा। मुझे उस समय यही उचित मालूम हुआ कि असली बात प्रकाशित कर दूँ। ऐसा करना मैंने अपनी विजय समझी और यही किया भी। बात यह हुई कि दरबारी की दुलहिन जब मेरे यहाँ से जाने लगी, तब अम्माजी ने उससे डपट कर कहा कि तू क्यों आयी थी?

उसने कहा—बहू से कुछ काम था।

उन्होंने पूछा—क्या काम था।

इस पर वह चुप रही। वह असली बात कहना नहीं चाहती थी और दूसरी स्त्रियों के समान उसमें बुद्धि भी नहीं है कि झट कोई बात गढ़ ले और पूछनेवाले को उल्लू

बता दे। बिचारी सीधी है। वह चुप होगयी। मैं भी उस समय बाहर निकल आयी थी। पर चुप थी। मैं खड़ी देख रही थी, मैं जानना चाहती थी कि अम्माजी क्या करती हैं।

अम्माजी ने कहा—"तू किससे पूछकर आयी थी ?"

उसने कहा—"किसीसे नहीं। और दिन भी आयी-गयी हूँ, इसीसे आज भी आयी थी।"

अम्मा—"तू हमारे घर में मत आया कर।"

मैंने कहा—"मेरे यहाँ यह आयी थी। कल गाँव में मेरी चर्चा हो रही थी, वही कहने आयी थी।

"तुम्हारी चर्चा तो होहीगी। तुम्हारे कारण तो यह परिवार बेइज्ज़त हो रहा है।"

"आपकी जैसी इच्छा है, वैसा हो रहा है। आप ही की दुर्गा तो झूठ मूठ मेरी शिकायत करती फिरती है।"

"अब तो गुस्ताख़ी सही नहीं जाती। जो तुम्हारे मन में आवेगा, वही तुम कह दिया करोगी। मुझसे तो ये बातें सही नहीं जांयगी।"

"आप सहती कहाँ हैं ? दुर्गा को तो मेरी झूठी बदनामी करने को आपने नियत ही कर दिया है, इसे ही सहना कहते हैं ?"

इसके बाद वे चिल्ला चिल्लाकर बोलने लगीं। उन्होंने मुझे गालियाँ भी दीं, माता-पिता का भी उद्धार किया। परि-

बार को भी दस पाँच सुनायीं। मैं चुप थी। मैं अपना काम कर चुकी थी। मेरा उद्देश्य तो केवल इतना ही था कि मैं उन्हें बतला दूं कि जो काम तुमने छिप कर किया, उसका पता मुझे मिल गया। मैं उनसे लड़ना नहीं चाहती थी। स्वभाव ही नहीं है, इच्छा भी नहीं थी। अम्माजी कुछ देर तक बोलती रहीं। दरबारी की दुलहिन अपराधिन की भाँति कहीं खड़ी रही। क़रीब पन्द्रह मिनटों तक बोलने के बाद उनका ध्यान दरबारी की दुलहिन की ओर गया। उन्होंने कहा—तू अगर आज से इस घर में पैर रखेगी, तो तू जान। मैं झाड़ू से मार कर तुझे निकाल दूंगी।

इस पर मुझे क्रोध आया। मैंने समझा कि ये अधिकार का दुरुपयोग कर रही हैं और मुझ पर अत्याचार। दुर्गा आवेगी और यह नहीं, इसका कारण क्या है? दुर्गा तो एक निन्दित स्त्री है। वह तो आ सकती है, क्योंकि वह अम्माजी की सखी है। उस पर वे प्रसन्न हैं और दरबारी की दुलहिन नहीं आ सकती, क्योंकि वे उसका आना पसन्द नहीं करतीं। न करें, मैं तो करती हूं। मेरा भी इस घर पर अधिकार है? उतना ही अधिकार है, जितना कि अम्माजी का। उनके आदमी, यदि उनके यहाँ आ सकते हैं, तो मेरे आदमियों को भी मेरे यहाँ आना चाहिए। बुरे से बुरे आदमी को यदि वे बुला सकती हैं, तो अच्छे आदमी को मैं

क्यों न बुलाऊं। मैं नहीं चाहती कि दुर्गा इस घर में आवे फिर भी वह आती है, इसी तरह दरबारी की दुलहिन का आना अम्माजी के पसन्द न होने पर भी मुझे पसन्द है, इस-लिए उसे भी आना चाहिए। यही सब वहाँ खड़ी खड़ी मैं सोचती रही और अम्माजी बोलती रहीं। वहाँ दो हृदय दो ओर दौड़ रहे थे। मेरी समझ से अम्माजी बेहोश सी हो गयी थीं, जो मनमें आता जाता था, वही बोलती जाती थीं। पर मैं बेहोश न थी। क्रोध था, मैं उपाय सोचती थी, क्या करना चाहिए, इसीका निश्चय करना चाहती थी। अम्माजी ने दरबारी की दुलहिन से कहा—"तू यहाँ से निकल क्यों नहीं जाती, अपना काला मुँह लेकर जल्दी निकल।"

अब मुझसे न रहा गया। मैंने दरबारी की दुलहिन से कहा—"अच्छा तुम जाओ। इस घर में अब दुर्गा की सी औरतें आवेंगी, तुम नहीं आ सकतीं। पर मैं तुमको छोड़ नहीं सकती। मेरे यहाँ तुम्हारा आना कोई छुड़ा भी नहीं सकता। अब मैं बहुत जल्दी इसका इन्तज़ाम करूंगी। मैं अब उस स्थान में रहूँगी, जहाँ आने से तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। अब तुम यहाँ से जाओ।" वह चली गयी। मैं भी अपने कमरे में चली आयी। अम्माजी भी चुप हो रहीं। थोड़ा देर चुप रहीं। फिर रोने लगीं। बड़े ज़ोर से। मैंने यह नहीं समझा कि यह किसी भावी कार्य का

उद्योग है। पर वह उद्योग ही था और अमोघ उद्योग था। उनका रोना सुनकर बाबूजी आये। उन्होंने अम्माजी से कुछ पूछा भी नहीं। न मालूम किस शक्ति से आते ही उन्होंने जान लिया कि यह सब खुराफ़ात बहू की है। उसीने इनको दुःख दिया है, इनका अपमान किया है। वे बोले—"बहू, तू क्यों ऊधम मचाए हुए है? क्या करना चाहती है? हम लोगों का तो इस घर में रहना मुश्किल हो रहा है।" वे इतना ही कहने पाये थे कि बाहर से छोटे चाचा-जी आगये और उन्होंने कड़क कर बाबूजी को डांटा। उन्होंने कहा—"तुम क्या करना चाहते हो? तुम्हारी बुद्धि क्या होगयी है? बहू को ऐसी बातें कहते शर्म नहीं आयी? अपनी स्त्री की तरफ़दारी करने आये हो? चलो बाहर चलो। अपनी देवी को समझाते नहीं, अपने खुद तो समझने की कोशिश नहीं करते?" वे बाबूजी का हाथ पकड़ कर बाहर ले गये। चाचा-जी बहुत डरे हुए से मालूम होते थे। उन्होंने समझा था कि शायद ये (बाबूजी) बहू को (मुझे) मारें न। शायद यही सोचकर आये थे और बाबूजी को पकड़ कर बाहर ले गये थे। वे तो बड़े शान्त हैं। कभी किसी बात में कुछ बोलते नहीं। कोई उनसे कुछ कहता भी

है, तो कह दिया करते हैं "भैया से पूछो"। आज उनको भी क्रोध आगया था। बाबूजी के बाहर चले जाने पर अम्माजी थोड़ी शान्त हुईं। आग की ज्वाला धीमी पड़ी। पर आग शान्त न हुई। मेरी समझ में वह शान्त हो जाती, यदि चाचाजी न आजाते। पर चाचाजी के आजाने से मुझे एक लाभ हुआ। एक तो उस समय मेरी रक्षा होगयी। न मालूम बाबूजी क्या क्या बकते, और कहीं मैं भी उनका उत्तर दे देती, तो झगड़ा और बढ़ता, और मुझे अपना कर्त्तव्य निश्चित किये बिना ही कुछ कर लेना पड़ता। दूसरी बात यह हुई कि चाचीजी की सहानुभूति मेरी ओर होगयी। चाचाजी जब बाबूजी को पकड़ कर ले गये, तभी अम्माजी ने चाची की ओर देखा। तीखी नज़र से देखा। मानों, इन्होंने ही कोई अपराध किया हो। चाचीजी भी उनके मन के भाव जान गयीं। पर उन्होंने उधर कुछ ध्यान न दिया। वे मेरे कमरे में चली आयीं। आकर पूछा—"बहू क्या करती है?" मैंने कहा—"कुछ भी नहीं, बैठी हूँ।" बस, वे चली गयीं। शायद वे यह जानने आयी थीं कि मैं रोती तो नहीं हूँ? पर मैं रोती नहीं थी, बैठी थी, इस काण्ड का परिणाम सोच रही थी। इस कलह नदी की लहरों—शरीर और मन को झुलस देने वाली लहरों—से बचना चाहती थी, पर कोई उपाय न सूझा। भोजन का समय हुआ। मालूम नहीं, किसने भोजन किया

और किसने नहीं लिया। मिसरानी ने मुझे बुलाया और मैं खाने चली गयी। आज मैं अकेली ही थी। मैंने पूछा—"और लोग खा गये?" मिसरानी ने इशारे से जवाब दिया—"हाँ।" मैं खाकर चली आयी।

खाकर ज्योंही मैं अपने कमरे में आयी, उसके थोड़ी ही देर बाद वकील बाबू की बेटी आयीं। उनको देखते ही मेरी आँखें भर आयीं। वे भी रोने लगीं। कौन बोले। वे भी न बोल सकीं, और मैं भी न बोल सकी। हम दोनों ही चुपचाप बैठी रहीं। श्यामा भीतर चली आयी। उसने कहा—"भाभी, मैं आऊँ?" मैं क्या उत्तर देती। आने में कोई रुकावट तो थी नहीं। मैंने कभी रोका भी न था। अतएव इस प्रश्न का अर्थ मेरी समझ में न आया। फिर मैं उत्तर ही क्या देती। इसीसे मैं चुप रही। वह भी खड़ी रही। और दिन होता, तो वह चली जाती। उसका घमण्ड तो उठाये भी नहीं उठ सकता था। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस लड़की का वह घमण्ड कहाँ गया। वह खड़ी है, यह देखकर वकील साहब की बेटी ने कहा—आओ बैठो। अपने घर में भी पूछा जाता है?" श्यामा ने कहा—"यह तो इनका घर है।" मैंने कहा—"घर तो अम्माजी का है, मेरा काहे का? इसीसे तो दरबारी की दुलहिन का आना उन्होंने रोका।"

इस पर सब चुप रहीं। श्यामा ने भी कुछ न कहा।

वकील साहब की बेटी क्यों आयी है? यह समझते मुझे देर न लगी। पर श्यामा के आजाने से वे अपने मन की कोई बात कहना नहीं चाहती थीं। वे जो कहने आयी थीं, वह बिना कहे ही लौट जाना चाहती थीं। बिना कहे भी मैंने यह समझ लिया। मैंने कहा—"कल तो तुम्हारे यहाँ बड़ी कचहरी बैठी थी। मैंने सुना है कि दुर्गा ने मेरी ख़बर ली और तुम लोगों ने दुर्गा की ख़बर ली।"

उन्होंने कहा—"तुमको ये बातें कैसे मालूम हुईं?

मैंने कहा—"तुम्हारी माता ने दुर्गा को अपने घर से निकाल दिया, यह भी मुझे मालूम है।"

उन्होंने कहा—तब तो तुम सब जानती हो, कहा किसने?

मैंने कहा—"दरबारी की दुलहिन आयी थी वही कह गयी। इसीलिए आज उसकी ड्योढ़ी भी बन्द हो गयी। अब वह इस घर में न आने पावेगी।"

वे चुप रहीं। मैं भी चुप हो गयी। श्यामा भी चुप ही रही। वह तो हम लोगों की बातें सुनने आयी थी। वह बोलती ही क्या?

वकीलसाहब की बेटी कुछ और कहना चाहती थी। वे क्या कहना चाहती हैं, यह मैं भी जानती थी। पर श्यामा बैठी थी, इससे उन्होंने भी कुछ नहीं कहा और मैंने भी नहींकहा। थोड़ी देर बैठ कर वे चली गयीं। उन्हींके साथ श्यामा भी चली गयी।

उन लोगों के जाने पर मैंने आपको पत्र लिखा, भाभो को भी लिखा है। भाभो से एक आदमी भेजने को लिखा है। तिवारीजी को बुलाया है। वे विश्वासी हैं और हमारे परिवार में वे बहुत दिनों से रहते आये हैं। यह इसलिए किया है, शायद कुछ ज़रूरत पड़े। कब क्या होगा, इसका पता नहीं है। अवस्था बड़ी दूर तक चली गयी है। अब बाक़ी है तो यही कि दरबारी की दुलहिन के समान एक दिन ये लोग मुझे भी निकल जाने को कह दें! यह असम्भव नहीं है। सुना है कि बाबूजी ने चाचाजी से लिफाफों की चर्चा करनी चाही थी। पर उन्होंने डांट दिया। उन्होंने कहा था कि 'ऐसी गन्दी बातें मैं सुनना नहीं चाहता। मैं जानता हूँ, वे लिफाफे उसकी माता और भौजाई के यहाँ से आये थे। उनमें क्या था, यह वह नहीं बतलाना चाहती तो न बतलावे। मुझे सन्देह नहीं है उस पर।" यहाँ तक तो नौबत आयी है।

प्राणाधार, इस घबराहट में मैं भला अपना कर्तव्य कैसे निश्चित कर सकती हूँ। यहाँ कृष्ण कोई नहीं है, जो युद्ध के मैदान में कर्तव्य का उपदेश कर सकता। अब मैं ऐसा स्थान ढूँढ़ रही हूँ, जहाँ शान्ति मिले और मैं अपना कर्तव्य निश्चित कर सकूं।

एक बात मैं आप से कहना चाहती हूँ। इन घटनाओं से कोई भी दुःखी हो सकता है। फिर आपका तो इनसे

संबन्ध है। आपका परिवार और आपकी स्त्री इस घटना के मूल हैं। आपका इसमें कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं है। आप किसी ओर भी नहीं हैं। पर परिवार के कुछ लोग समझते हैं कि आपकी स्त्री आपके इशारे से यह सब कर रही है। ऐसा समझना उनका स्वाभाविक है। सभी समझते हैं। बाहर के लोग भी ऐसा ही समझ सकते हैं। इसके लिए दो ही उपाय हैं। एक तो यह कि आप समझ लें कि इस घटना से आपका सम्बन्ध ही नहीं है। हम भी आपकी कोई नहीं, आपका परिवार भी आपका कोई नहीं। संसार में तो इससे भी भयानक घटनाएँ होती हैं। उनसे हम लोगों को तो कोई कष्ट नहीं होता। इसका भी कष्ट न होगा। दूसरा उपाय यह है कि आप मुझे स्पष्ट आज्ञा दें कि तुम यह करो, ऐसा करने से मुझे सुख होगा। आपकी आज्ञा पाते ही मैं अपना कार्यक्रम बदल दूंगी। वही करूंगी जो आप कहेंगे। नाथ, इन उपायों में से जो आप उचित समझें करें। मैं अभी तक इतना ही निश्चित कर सकी हूँ। मैं नहीं चाहती कि आपको कष्ट हो। इस घटना से आपका लगाव हटाने का मैंने कम प्रयत्न नहीं किया है, पर सफल न हो सकी।

आपकी

......भा

---

(१४)

जीवितेश्वर,

तिवारी लखनऊ से कल दोपहर को आगये । वे बाबू-जी से भी मिले । संध्या को गाँव में ख़बर फ़ैल गयी कि लखनऊ से आदमी आया है बहू को ले जाने के लिए । यह ख़बर मेरे घर से फैली थी। पर मुझे घर में इसकी कोई ख़बर नहीं लगी । घर से निकल कर यह ख़बर गाँव में फैली और गाँव से होकर मेरे यहाँ पहुँची । वकील बाबू की बेटी ने आकर सब बातें सुनायी थीं । उन पर भी अम्माजी नाराज़ हैं और ख़ूब नाराज़ हैं । पर उनको तो वे कुछ कह नहीं सकतीं । वे क्या दरबारी की दुलहिन हैं कि जो चाहे वही और जितना चाहे उतना, बकझक ले, जली-कटी सुना दे । इनको कोई सुनावेगा तो दस उसे सुननी पड़ेंगी । क्रोध का हाथी तो बड़ा समझदार होता है । वह समझ बूझ कर पैर रखता है । ख़तरे से वह दूर ही

रहता है। "सेर के सवा सेर" के पास तो वह फड़कता भी नहीं। सोचता होगा, दलदल में कौन फँसने जाय।

वकील साहब की बेटी के जाने के बाद मैंने अपने कमरे के किवाड़ बन्द कर लिए। नींद तो आजकल आती ही नहीं। रात में भी नहीं, फिर मैं दिन में सो कैसे सकती हूँ। सोच रही थी, क्या करूं। कभी मन में यह बात आती थी कि मैंने क्यों इस आग को भड़काया, चुप रह जाती। बहुत सी स्त्रियां तो सहती ही हैं, इससे भी भयानक कष्ट वे भोगती हैं, अपने प्राणों की भी बाज़ी लगा देती हैं। पर कानोंकान किसी को ख़बर तक नहीं होती। फिर मन कहता है—यह कष्ट तो इससे भी भयानक होता। कालापानी की सज़ा से तो फांसी ही अच्छी। ज़िन्दगी भर घुलने से तो थोड़ी देर का भोग, चाहे वह जितना भयानक हो, अच्छा समझा जाना चाहिए। फिर इस के कारणों की ओर ध्यान गया। मैं सोचने लगी—किसका अपराध है, किसके कारण यह झगड़ा खड़ा हुआ है। क्या कहूं, अपराधी तो कोई मिला नहीं। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि अपराधी छिपा हुआ है। यहां छिपने की तो शङ्का ही नहीं हो सकती। जो बातें हैं, सब सामने हैं। जिन-

ने आदमी हैं, वे सभी जाने हुए हैं। यही सब मैं सोच रही थी। किवाड़ धड़के, आवाज़ आयी—किवाड़ खोलो

मैंने कहा—"कौन है ?"

"यशोदा।"

"क्या है ?"

"किवाड़ खोलो।"

" न खोलूंगी।"

"खोलना पड़ेगा।"

"असम्भव है, जब तक अपनी ज़रूरत न बतलाओगी न खोलूंगी।"

थोड़ी देर तक कोई आवाज़ न आयी। मैं भी अपनी उधेड़-बुन में लगी। मैंने समझा कि यशोदा चली गयी। पर सो बात नहीं हुई। आगे की कार्रवाई की सम्मति लेने के लिए यशोदा गयी हुई थी। पांच मिनट के बाद फिर किवाड़ धड़के, फिर आवाज़—खोलो।

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। किसी ने कर्कश स्वर में कहा—

"खोलो !"

मैंने कहा—"कह दिया है, न खोलूंगी।"

फिर वही आवाज़ आयी—"मैं हुक्म देता हूं, खोलो"

मैंने कहा "वाह हुक्म देने वाली । मैं हुक्म नहीं मानती।"

मैंने समझा था कि यशोदा ही बोल रही है, पर सो बात नहीं थी। अबकी स्वयं मेरे ससुरजी आये थे, और किवाड़ खुलवा रहे थे। जब मैंने कहा—मैं हुक्म नहीं मानती, तब तो बाबूजी घबराए, शायद उन्हें कुछ शरम मालूम हुई। वे चुप हो गये। पुनः मैंने फूआजी की आवाज़ सुनी। उन्होंने कहा— "बहू किवाड़ खोल दे, तेरे बाबूजी आये हैं, किवाड़ खुलवा रहे हैं।" मैं उठी किवाड़ खोलने के लिए, मन में आया कि न खोलूं, ये क्या करेंगे। उनपर मेरी श्रद्धा तो रही नहीं। पर न मालूम क्यों, मैंने जाकर किवाड़ खोल दिये और अपने कमरे में ही, किवाड़ के पास ही खड़ी हो गयी। कलेजा धक-धक कर रहा था। क्या हुआ है, जो ये किवाड़ खुल-वाने आये हैं। ऐसा तो कभी नहीं हुआ। और स्त्रियों के भी ससुर हैं, क्या वे भी ऐसा ही करते हैं? ये ही सब बातें मेरे मन में आने लगीं। बाबूजी मेरे कमरे में घुसने लगे, उनके हाथ में डण्डा था। उस समय मैंने सुना कि कोई फूआजी से कह रहा है— "बहिन जी! कह दीजिए कमरे में न जाय, नहीं तो आग

लगा दूँगी, इस घर को जला डालूँगी।" यह आवाज़ धीमी थी, पर फैलने वाली थी। इस आवाज़ के सुनते ही बाबूजी ने कमरे की तरफ़ जो पैर बढ़ाया था, पीछे खींच लिया। वे आगे तो बढ़े नहीं, पीछे भी नहीं हटे। उनके सामने अम्माजी थीं। बाबूजी फूआजीका मुँह ताकने लगे। अम्माजी चुप थीं। उनके पीछे श्यामा और यशोदा खड़ी थी। फूआजी भी वहीं थीं। पर मैं उन्हें देख न सकी, वे किधर हैं। फिर वही आवाज़ आयी, "कह दो, यहाँ से चले जांय"। इसी समय मालूम हुआ कि कोई बाहर से आ रहा है, शीघ्रता से आ रहा है। फिर हमने चाचाजी की आवाज़ सुनी। उन्होंने आकर बड़े भाई से कहा—"आज यह क्या स्वांग रचा है। पागल तो नहीं हो गये हो। घर के चारों ओर आदमी क्यों खड़े कर रखे हैं, और आप ख़ुद यहाँ डण्डा लिये क्यों खड़े हो? क्या चोर पकड़ रहे हो?" बाबू जी चुप थे। चाचाजी ने कहा—चुप क्यों हो, बोलते क्यों नहीं। वे अम्माजी की ओर देखने लगे। अम्माजी यशोदा का मुंह ताकने लगीं। चाचाजी ने कहा—कहो क्या बात है, क्यों आये हो? इसी समय चाचाजी को दसिया से चाचीजी ने बुलाया भी था। पर वे न गये। उन्होंने कहा—कह दो, आता हूं थोड़ी देर बाद। फिर उन्होंने कहा—बोलो! उन्होंने फूआजी से पूछा—ये लोग तो बोलते नहीं, तुम्हीं बतलाओ, तुम लोग यहां क्यों इकट्ठे हुए हो।

यह मोटा डंडा क्यों लिये हो ? घर के चारों ओर आदमी क्यों खड़े किये गये हैं ?

फूआजी बोलीं—"मैं क्या जानूं भैया ? मैंने जो सुना, वही कहती हूँ। यशोदा ने जाकर अपनी मा से कहा कि भाभी के घर में कोई मर्द गया है और भाभी ने किवाड़ बन्द कर लिये हैं। इसकी माँ ने बाहर ख़बर भेजी। बाहर क्या हुआ, सो राम जाने। थोड़ी देर बाद भैया आये और किवाड़ खुलवाने लगे। पहले तो बहू ने किवाड़ खोले नहीं, फिर जब मैंने कहा कि तेरे ससुर आये हैं, खोल दे। तब उसने किवाड़ खोले। किवाड़ खुलने पर ये भीतर जाने लगे, तब तक तुम्हारी दुलहिन ने कहा, "कह दो कि कमरे के भीतर पैर न रखें, नही तो मैं आग लगाकर उस घर को जला दूँगी।" फूआजी चुप हो रहीं। इन बातों को सुनकर मेरे शरीर में आग लग गयी। क्रोध इतना आया कि क्या कर डालूँ। मैंने बाहर की ओर देखा। सामने चाचाजी दिखायी पड़े। उनका चेहरा लाल हो रहा था। उनकी आँखें ऐसी लाल हो रही थीं, मानों अंगारे बरसा रही हों। उन्होंने बाबूजी से, भरे हुए गले में पूछा—"क्यों साहब, ये सब बातें क्या हैं ? आपलोग यहाँ तक उतर आये हैं। मैं जानता हूँ तुम्हारे दिन बिगड़ गये हैं। हाय, ऐसी देवी पर कलङ्क ! अच्छा चलिए, घर में, देखिए और मुझे मर्द दिखाइए, मैं इस बहू को अभी टुकड़े टुकड़े

कर देता हूं। यदि मर्द न निकला तो, तुम अभागियों को क्या कहूं। तुम लोगों को स्वयं चाहिए कि अपने गले में रस्सी बाँधकर डूब मरो। पर तुम पापियों से यह तो होगा नहीं। अच्छा!" इसके बाद उन्होंने चाचीजी के कमरे की ओर मुँह करके कहा—"बहू को यहाँ से अपने पास ले जाओ। थोड़ी देर में चाचीजी आयीं और अँकवार में पकड़ कर मुझे ले-गयीं। मैं उस समय कांप रही थी। पैर ठीक ठीक नहीं पड़ते थे। इतना क्रोध हो आया था। इच्छा होती थी, यदि मैं काली होती, तो इनका ख़ून पी लेती।

सब लोग मेरे कमरे में गये। किस तरह उन्होंने ढूँढ़ा, सो तो मालूम नहीं। पर बड़ी देर तक वे लोग वहीं रहे। क़रीब आधे घंटे के बाद वे लोग निकले। चाचाजी उन लोगों के आगे थे। वे चाचीजी के कमरे के द्वार पर आये और बोले—"जल्दी तयार हो जाओ, तुम्हें आज ही सन्ध्या की गाड़ी से बनारस जाना होगा। बहू को भी लखनऊ भेजूंगा।" वह चले गये। उनके पीछे पीछे बाबूजी भी गये। ऐसे आदमी को "बाबूजी" कहने की तो इच्छा नहीं होती, पर अब तो वे बाबूजी होगये। चाहे जैसे भी हों, जो भी करें। उनकी सूरत उस समय देखते ही बनती थी। पागल के चेहरे पर तो रौनक़ रहती है। मैं क्रोध से अधीर हो रही थी, कुछ ही घंटों में एक बड़ी विपत्ति उठाने की तयारी कर रही थी।

अतएव बाबूजी की वह रोचक सूरत मुझे विशेष आकृष्ट कर सकी। वे बाहर चले गये। अबतक मैं खड़ी थी। चाचीजी भी मेरे पास ही खड़ी थीं। मालूम होता है कि चाचीजी की भी दशा क़रीब क़रीब मेरे ही समान थी। वे भी क्रोध से अधीर थीं। उनकी आँखों से आँसू जारी थे। घर में चारों ओर शान्ति थी। जो दल अपने विजयी होने का स्वप्न देख रहा था, उसने बुरी तरह पछाड़ खायी थी। वह बेहोशी में पड़ा था। इसी तरह एक घंटा बीत गया। चाचाजी आये। उन्होंने बाहर से पुकारा—"तयार हो"। चाची बाहर चली आयीं।

चाचीजी ने कहा—"बहू को यहाँ छोड़कर तो मैं न जाऊंगी। पहले इसे इस घर से कहीं भेज दो, कलकत्ता या लखनऊ, जहाँ यह कहे, या जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, फिर मुझे भेजो।"

चाचाजी ने कहा—"मैं भी यही चाहता हूं। बहू के मैके से तिवारीजी आये हैं। वे इसके पिता के निजी आदमी हैं। बहुत दिनों से उनके यहाँ रहते हैं। उनके साथ मैं बहू को लखनऊ भेज देना चाहता हूँ। यदि यह कलकत्ता जाना चाहे, तो वहाँ ही भेज दूँ। तुम पूछ लो, मैं अभी आता हूँ।" वे चले गये।

चाचीजी ने मुझसे पूछा—"तुमने सुना है न, जो तुम्हारे चाचाजी ने कहा है ? तुम क्या चाहती हो ?"

मैं तो कुछ बोल ही नहीं सकती थी। आवाज़ ही नहीं निकलती थी। थोड़ी देर चुप रहकर मैं बड़े प्रयत्नों से बोल सकी। मैंने कहा—"कहीं ऐसी जगह मुझे ले चलिए, जहाँ मैं विश्राम करलूं। तब मैं कहूँगी। अभी तो मेरी समझ में कोई बात ही नहीं आती।" इतना कह कर मैं बैठ गयी। ज्योंही बैठी, त्योंही केशर आयीं। वही वक़ील साहब की बेटी। वे बोलीं—"चाची, अम्मा आरही हैं, बाबूजी भी बाहर आकर खड़े हैं। मैं उनका मुँह देखने लगी। वे क्या कहती हैं, यह मैं समझ ही नहीं सकी थी। तब तक उनकी माँ भी आगयीं। मैं उनको देखकर उठ खड़ी हुई। आजतक उन्हें कभी नहीं देखा था। पर मालूम नहीं क्यों ? मुझे यह मालूम हुआ कि मेरी माँ आकर खड़ी होगयीं हैं। मैं अपने को रोक न सकी, फूट फूट कर रोने लगी। वे भी रोने लगीं। केशर और चाची ये दोनों भी रोने लगीं। शीघ्र ही वकील साहब और चाचाजी भीतर आये। वकील साहब भी उनके साथ थे। उन्होंने कहा—"तुम तयारहो ?" चाची नेउन्हें भीतर बुलवाया।

चाची ने कहा—बहू कहती है कि थोड़ी देर विश्राम कर लेने के बाद मैं कुछ कह सकूंगी। तब तक मैं कैसे जा सकूंगी।

चाचाजी ने कहा—"हाँ, मैंने भी यही निश्चय किया है। तुम दोनों आज वकील साहब के घर चलो, वहीं रहो। वहाँ निश्चय किया जायगा कि अब हम लोगों को क्या करना चाहिए। तुम लोगों का जो सामान हो, ले लो।" बहू से भी कह दो कि उसे जो लेना हो, ले ले"। वे बाहर गये। उनके साथ वकील साहब भी बाहर चले गये। बाबूजी की बुद्धिमानी का जो भयानक प्रभाव अबतक हमलोगों पर छाया हुआ था, उसमें थोड़ा सा परिवर्तन हुआ। हम लोग अपना सामान इकत्र करने में लगीं। चाचीजी ने कहा—जा बहू, अपने कमरे से अपना सामान ले आ। मैंने अपना हाथ-बक्स और ट्रंक मंगवाया। ये दोनों मेरे पिता के दिये हुए थे। हाथ-बक्स में मेरे निजी रुपये और चिट्ठियां थीं। ट्रंक में कपड़े और गहने। दो साड़ियां मैंने निकाल लीं। एक तो पिता की दी हुई और दूसरी सुहाग की। भाभी का दिया हार छोड़ कर और सब गहने मैंने रख दिये। लोगों ने कहा— ये तो तुम्हारे हैं। मैंने उनकी बात न सुनी। बस मेरा सामान तयार होगया। मेरा ध्यान अपने पहने हुए कपड़े पर गया। यह भी तो इन्हींका कपड़ा है। इसे क्यों ले जाऊँ? दो साड़ियां और मेरे पास थीं। पर वे बहुत अधिक दाम की थीं। वे रानियों के पहनने की थीं। मैं तो कंगाल होने जा रही हूँ। मुझे तो वैसी साड़ियां नहीं पहननी चाहिएँ। मैं सोच में पड़ गयी। किशोरी की माँ

ने कहा—"क्या सोच रही है बेटी"? मैंने उनकी ओर देखा। कुछ कह न सकी।

उन्होंने कहा—"मैं तो तेरी माँ हूँ। शरमाती क्यों है? बता, क्या सोच रही है?"

मैंने कहा—अपने घर से एक धोती मँगवा दीजिए। उनकी आज्ञा के बिना ही किशोरी देवी दौड़ी चली गयीं। शीघ्र ही दो मजूरिनें लिये वे आगयीं। आते ही उन्होंने कहा—सामान ले जाने के लिए इन्हें लिये आयी हूं अम्मा।

मैंने धोती पहनी। उनकी धोती खोल दी। धोती पहनते समय अपने शरीर के गहनों पर ध्यान गया। वे गहने भी खोल कर मैंने रख दिये। अब मैं तयार हो गयी। चाचीजी भी उधर तयार हो रही थीं। उन्होंने भी कोई सामान लिया। उन्होंने भी गहने कपड़े सब यहीं छोड़ दिये। हम लोगों का सामान मजूरिनों को दे दिया गया। दोनों लेकर चली गयीं। कुछ अधिक तो था नहीं। मैं खड़ी होगयी। चाचीजी ने कहा—अपनी अम्मा को प्रणाम कर ले, चल मैं भी चलती हूँ। मैं उनकी ओर देखने लगी। उनकी इस बात से मुझे उस समय क्रोध आया। पर वे चलीं और अपने पीछे आने के लिए उन्होंने मुझे भी कहा। मैं बिना सोचे-समझे उनके पीछे पीछे चली। अम्माजी के पास गयी। वे पड़ी थीं। दोनों लड़कियां बैठी थीं। बुरी सूरत थी। शायद वे

पश्चात्ताप कर रही हों अपने दुष्कर्मों का—अथवा इस मूर्खता का ऐसा परिणाम होगा, उन लोगों ने पहले सोचा न होगा और अब, उसके सामने आने पर वे घबरा गये होंगे। हम लोगों ने प्रणाम किया। वे कुछ बोली नहीं। चलते समय चाचीजी ने कहा—"हम लोग कुछ ले नहीं जा रही हैं। आप की चीज़ें तो छोड़ ही दी हैं। अपने बाप की दी हुई चीज़ें भी छोड़ दी हैं। आपके कपड़े तक नहीं लिये है। अपनी चीज़ें सम्हालिए"। वहाँ से हम लोग फूआजी के पास गयीं। फूआजी को प्रणाम किया और चली आयीं। फूआजी भी कुछ बोल न सकीं। मालूम नहीं, उन लोगों की आवाज़ क्यों बन्द हो गयी। सुनना ही कौन चाहता था। मुझे तो जाना भी बुरा मालूम हुआ। पर, चाचीजी गयीं, उनकी आज्ञा थी, उस समय चाचीजी की आज्ञा टालने की, मुझमें शक्ति नहीं थी। मैं चली। अब मैं घर से निकलने लगी। बड़ा उत्साह था। समझती थी कि अब बची। जैसे कोई बाघ के मुँह से निकल कर भागा जा रहा हो। मैंने ड्योढ़ी के बाहर पैर रखा। कलेजा धक होगया। मेरा घर छूटा जा रहा है। जिस घर में मैं इतने दिनों तक आनन्द से रही, आज वह घर छूटा जा रहा है। जो घर मेरा था, उसे आज छोड़ना पड़ता है। मैं तो ख़ुद जाही रही हूं। चाचा और चाची को भी लिये जा रही हूँ। हाय, मैं कैसी अभागिन हूँ। मैं यहाँ की रानी थी,

अब भिखारिन बनने जा रही हूँ। चाचाजी को भी भिखारी बना रही हूँ। प्राणेश्वर, उस समय मुझे बड़ा कष्ट हुआ। मैं अपने सब दुःख भूल गयी। जो मेरा अभी, अभी इस घर में अपमान हुआ था, जिसे देख-सुनकर दूसरों का दिल दहल गया और उन लोगों ने बिना सोचे-विचारे शीघ्र ही इस घर का त्याग करने की सम्मति दी, वह सब मैं एक बार ही भूल गयी। मालूम होता है कि मानसिक भावों में छोटे बड़े का विचार है। जिस प्रकार बड़े आदमी के आने पर छोटा आदमी हट जाता है, उसके बैठने के लिए जगह ख़ाली कर देता है, उसी प्रकार वज़नी मानसिक भाव के लिए हल्के मानसिक भाव जगह ख़ाली कर देते हैं। अथवा ज़बर्दस्त भाव कमज़ोर भाव को दबा लेता है, यह भी कह सकते हैं। जो हो, मैं घर से बाहर पैर रखते ही बहुत घबराई। मैं जानती हूँ, यह मोह है। यह स्मृति का एक प्रकार का बन्धन है। विवेक नहीं है। पर वह मज़बूत है इससे उसने हमें दबा लिया। विवेक कमज़ोर था, मोह ने उस पर अधिकार करना चाहा। पर थोड़ी ही देर बाद वह लुप्त होगया। मैं वकील साहब के घर पहुँची। घर साफ़ सुथरा है। चीज़ें यथास्थान रखी हुई हैं। घर देखने से इन लोगों की सुरुचि का पता लगता था। मुझे और चाची को बैठाकर किशोरी चली गयीं। उनकी माता मेरे पास रहीं। आध घंटे के बाद किशोरी

आयीं। माता के पूछने पर उन्होंने कहा—"डाकख़ाने आदमी भेजने गयी थी। शायद कोई चिट्ठी आवे और वह उन लोगों के हाथ पड़ जाय, तो ? कोई ज़रूरी चिट्ठी हो और इनको न मिले। इसी लिए डाकख़ाने आदमी भेजा है"। मुझे किशोरी का प्रेम और तत्परता देख कर आनन्द आया। उनकी माता ने कहा—"अच्छा किया, अब इनके बैठने उठने का स्थान ठीक करा दो। जलपान का भी प्रबन्ध करो। थकी हैं। बहुत कष्ट उठाया है, आज हमारी बेटी और बहिन ने।

किशोरी से ऐसा कहकर वे चाचीजी को साथ लेकर वहाँ से चली गयीं। मैं और किशोरी येही दो वहां रह गयीं। किशोरी ने कहा—कुछ खालो, भाभी !

मैंने कहा—कैसे खाऊँ बहिन। न भूख है और न प्यास। इतना कहने के बाद आँखे भर आयीं। किशोरी ने भी रोने में साथ दिया। मैंने कहा—बहिन किशोरी, मुझे तो मालूम ही नहीं होता कि मैं भी आदमी हूं। मुझे भी भूख लगनी चाहिये। ये इन्द्रियाँ मेरी हैं, इसका भी मुझे ज्ञान नहीं है। मालूम नहीं, मैं क्या होगयी हूं।

किशोरी के घर आये मुझे एक घण्टा बीता होगा। दरबारी की दुलहिन आयी। वह अधीर थी। उसके कष्ट का अन्दाज़ा मैं नहीं कर सकती इतना मुझे विश्वास है कि उस का कष्ट मेरे कष्ट की अपेक्षा अधिक था। वह आयी। मैंने

कहा, आओ चाची। अब यहाँ तुमको कोई न रोकेगा। वह आकर मेरे पैरों पर गिर पड़ी, फूट फूट कर रोने लगी। मैं भी अपने को रोक न सकी। वह प्रेम! सुनती हूँ भगवान् भक्तों के हाथ बिक जाते हैं। प्रेमी अपने प्रेम से उन्हें खरीद लेते हैं। दरबारी की दुलहिन का प्रेम देखकर मैं तो विह्वल हो गयी। वह बड़ी देर तक मेरे पास बैठी रही—और बहुत सी स्त्रियाँ आयीं थीं। चारों ओर से मुझे घेर कर बैठ गयीं। वे सभी रोती थीं। मेरे दुःख से दुःखी थीं। किशोरी ने उन लोगों के सामने ही मुझसे कहा—"भाभी, यह तुम्हारी जीत है। सूर्य पर कोई धूल नहीं डाल सकता। सती पर कलङ्क लगानेवाला खुद भरमुँह माटी लेकर औंधे मुँह गिर जाता है। अपने बदनाम करनेवालों की दशा देखो और अपनी दशा देखो। आज यह समूचा गाँव तुम्हारे लिए रो रहा है, जिसने सुना. उसीने उसको गाली दी, जो तुमको कलङ्कित बनाने का प्रयत्न कर रहा था। आज तुम्हारे चरणों की धूल, माथे चढ़ाने के लिए बहुत से लोग उत्सुक हैं और तुमसे विरोध करनेवालों की ओर कोई देखता भी नहीं। जाकर देख लो, अभी ही उस घर की क्या दशा होगई है। प्राण निकल जाने पर शरीर जैसे प्रभाहीन हो जाता है, वही दशा आज उस घर की भी है। तुमको बदनाम करनेवाले तुम्हें लोगों को आँखों में गिराना चाहते थे। पर हुआ क्या, वे खुद

भेर गये और लोगों ने तुम्हें अपनी आँखों पर उठा लिया।" दूसरी स्त्रियों ने भी इसी तरह की बातें कहीं। किशोरी ने उन स्त्रियों से कहा—"बहनों, तुम लोग कल आना, ये आज बहुत थकी हैं, थोड़ी देर विश्राम करने दो। मैंने कहा—"बैठने दो किशोरी बहिन, मालूम नहीं, फिर इनके दर्शन होंगे कि नहीं। थोड़ी देर और उनको देख लूंगी तो मुझे शान्ति ही मिलेगी"। स्त्रियों ने मुझे धन्य धन्य कहा। कई तो रो पड़ीं। उन लोगों ने कहा—बहू हमारे अभाग्य हैं कि तुम्हारी सरीखी देवी यहाँ से जा रही हैं। अब कौन हम लोगों के दुःख छुड़ावेगा। तुमने हम लोगों की जैसी मदद की है, वैसा कौन कर सकता है। अब हम लोगों को कौन दवा देगा, कौन रुपये देगा। हमारी गृहस्थी चलाने के लिए कौन उपाय बतलावेगा और कौन सहायता देगा। बहू, तुम जारही हो, जाओ; पर हम लोगों का तो सहारा ही टूट गया। हम तो अनाथ होगयीं"। उन लोगों का प्रेम देखकर मेरी तो इच्छा हुई कि मैं फिर उस घर में चली जाऊँ। जो हो, उसे भोगूं, पर इनका साथ न छोड़ूं। याद आया कि वहाँ रह कर तो मैं इनसे सम्बन्ध रख न सकूंगी। कुछ स्त्रियों ने मुझे रुपये दिये। समय समय पर उन लोगों को जो रुपये मैंने दिये थे, वे ही रुपये ये लौटा रहीं थीं। शायद उन लोगों ने समझा होगा कि मैं अब इस घर से जारही हूं। घर से

मेरा सम्बन्ध टूट गया है। मुझे खर्च की जरूरत हो होगी, इसीलिए उन लोगों ने रुपये लौटाने का विचार किया होगा। उन लोगों ने सोचा होगा कि कुछ काम इन रुपयों से चल जायगा। मैंने वे रुपये लिए नहीं। उनको ही लौटा दिये। मैंने कहा—अभी अपने ही पास रखो, मैं अभी तो जाती नहीं। कुछ दिनों के लिए जाऊँगी, फिर यहीं लौट कर आऊँगी। इस गाँव को छोड़कर अब कहाँ जाऊँगी ? चाहे जिस हालत में रहना पड़े, पर इस जन्म में तो यह गाँव मुझसे छूटता नहीं। मैं लौट आऊँगी और यहीं रहूंगी। तुम लोग आशीर्वाद दो कि मेरा मनोरथ पूरा हो।

उन लोगों ने कहा—अच्छा बहू, तुम विश्राम करो, हम लोग कल आवेंगी। वे चली गयीं। मदारी की दुलहिन रह गयी। उन लोगों के जाने पर मैं लेट गयी। उसने कहा—मालकिन, मैं तुम्हारे किसी काम नहीं आसकती, ऐसी अभागिन हूं। मेरा छुआ पानी भी तो तुम्हारे काम नहीं आ सकता। तुमने मेरे लिए इतना किया। मुझे इस दुनिया में रख लिया। आज तुम्हारी ही बदौलत सुख से खाती पीती हूं। चार पैसे पास भी हैं। पर हाय, मेरी मालकिन, मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सकती। अच्छा पैर तो दबा सकती हूँ। वह पैर दबाने लगी।

मैंने कहा—"चाची, यह क्या कर रही हो ? रहने दो।"

आज से मैं उसे चाची कहने लग गयी हूँ। चाची कहने में मुझे बड़ा आनन्द आता था। मेरे रोकने पर भी वह मेरा पैर दबाती ही रही। इस तरह थोड़ी रात बीत गयी। उस समय बहुत सी स्त्रियाँ आयीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बड़े घर की ये लोग थीं। मैंने तो इनको पहले देखा भी न था। हाँ, बहुतों के नाम सुने थे। इन लोगों ने मुझे समझाया। मुझे दुःख न करने के लिए कहा। उन लोगों ने कहा—"हम सब लोग तुम्हें पवित्र जानती हैं, तू सती है। तुझ पर जो कलङ्क लगावेगा, उसका भला न होगा। हम सब लोग तयार हैं यह कहने के लिए कि तुम देवी हो, निर्दोष हो, सती हो, वे लोग इसी तरह की बातें कह रही थीं, चाचीजी और वकील साहब की स्त्री भी वहाँ आगयीं। चाची उनमें की बहुत सी स्त्रियों को जानती थीं। उन्होंने बहुतों से मेरा परिचय कराया, नाते में वे मेरी क्या होती हैं, यह भी बतलाया। कई स्त्रियों को प्रणाम करने के लिए कहा। जो जो उन्होंने कहा, वह सब मैंने किया। थोड़ी देर तक बैठकर वे अपने अपने घर चली गयी। चाची ने मुझे हाथ मुँह धोने के लिए कहा—उनकी आज्ञा पाते ही मैं उठ खड़ी हुई। सिवा इसके दूसरा कोई उत्तर हो नहीं था। मैं और किशोरी नीचे आयी और हाथ मुँह धोने में लगीं। मैंने कहा—क्या मैं नहाऊँ? उसने कहा—मैं भी नहाऊँगी, आती हूँ

धोती ले आने, मैंने स्नान किया। भगवान् से प्रार्थना की, कहा—दीनबन्धो! मुझे बल दो। आज जैसी सहायता की है, वैसी ही सहायता दो। मैं भगवान् का प्रार्थना कर रही थी, उनका ध्यान कर रही थी, मेरे ध्यान में दो मूर्तियाँ आयीं। एक चाचाजो थे और दूसरी चाचीजी। मालूम हुआ एक विष्णु हैं, दूसरी लक्ष्मी। कैसा आनन्द था। देवता, आज तक तो भगवान् के दर्शन न हुए। आज ही अनाथशरण के दर्शन हुए, मैं तो कृतकृत्य होगयी। हाय, मैं कितनी अन्धी थी! आज तक चाची को नहीं पहचाना था। वे मेरे पास थीं, रोज़ मिलती-जुलती थीं। पर उनका हृदय ऐसा है, वे साक्षात् लक्ष्मी हैं, यह तो मालूम न था। उन्होंने भी तो कभी परिचय नहीं दिया। पहले उनका मुझसे विशेष सम्बन्ध भी न था। वे उदासीन सी रहती थीं। पर उस दिन जब मेरी तलाशी का प्रबन्ध किया जाता था, सहसा उनकी तीखी आवाज़ मैंने सुनी। पहले तो मैंने आवाज़ पहचानी ही नहीं। पर फूआजी के कहने से मालूम हुआ। उसके बाद मैं थोड़ी देर के उन लोगों के व्यवहारों से तो उनकी दासी बनगयी। यह उनके प्रेम की विजय थी। उनके सत्यप्रेम और उदारता का फल था। उन लोगों ने कितना बड़ा त्याग किया। इतनी बड़ी सम्पत्ति कौन छोड़ता है। सौ पचास के लिए तो, जो न करने का सो लोग कर डालते हैं, शर्माते भी

नहीं। मुंह भी नहीं छिपाते। अपनी सफलता पर ऐंठे फिरते हैं। चाचाजी ने तो इतनी बड़ी सम्पत्ति छोड़ दी, सोचा भी नहीं क्या होगा। चाचीजी ने कई हज़ारों के गहने फेंक दिये। कह दिया—उठा लेना, सम्भाल रखना। यह हेकड़ी, यह साहस, ऐसा त्याग! किसलिए, मेरे लिए, हां मेरे ही लिए तो, एक अबला को मिथ्या कलङ्क से बचाने के लिए। और भी तो हैं। निरपराधों को टुकड़ों के लिए फँसाया करते हैं। झूठी गवाहियाँ देते फिरते हैं। पर चाचाजी ने तो वही किया, जो ऐसे समय में एक वीर धर्मात्मा को करना चाहिए। यही तो मर्दानगी है। इसी पुरुष का आज मैंने पुरुषोत्तम के रूप में दर्शन किया है, वहां चाचीजी भी लक्ष्मी के रूप में उपस्थित थीं। एक कोई बालक भी था, पर मैं पहचान न सकी।

मैं ऊपर आयी, मैंने कहा—"चाचाजी को बुलवा दीजिये। मैं उनके पैरों पर सिर रखकर प्रणाम करना चाहती हूँ।" किसी ने कुछ नहीं कहा, किशोरी देवी गयीं, बुला लायीं। चाचाजी आ रहे हैं, यह मालूम होते ही मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। ये आँसू दुःख के न थे, दुःख कहाँ था, अब तो भगवान् के दर्शन हो चुके थे। ये आँसू श्रद्धा के थे, भक्ति के थे, प्रेम के थे। मैंने चाचाजी के चरणों पर सिर रख दिया, बड़ी शान्ति मिली। बड़ी देर तक मैं वैसीही पड़ी रही।

चाचाजी भी रो रहे थे। उन्होंने भर्रायी आवाज़ में कहा—"बेटी, उठ, निर्भय और निश्चिन्त हो जा। तेरी पवित्रता तेरी रक्षा करेगी। तेरा धर्म, तेरी सहायता करेगा। बेटी, मैं तेरा भविष्य देख रहा हूँ, वह उज्ज्वल है। मुझे दुःख है कि इस घर में आने के कारण तुझे इतना कष्ट हुआ। वह घर मेरा भी था, और तुझ सती स्त्री को वहां कष्ट हुआ—इसका मुझे बड़ा कष्ट है। मैं अपना यह कष्ट मिटाऊँगा, अधिक से अधिक मूल्य दे कर भी। बेटी, मै तुम्हारा साथ न छोडूंगा। तुम मेरी पुत्रवधू हो, पर मैं तुम्हें अपनी माता समझता हूँ। सच-मुच माता हो, तुमने इस गाँव की स्त्रियों पर कैसी मोहनी डाली है, इसका पता मुझे आज मालूम हुआ। आज इस गाँव की प्रायः सभी स्त्रियों ने भोजन नहीं किया था। कई घरों में चूल्हे नहीं जले थे। मुझे मालूम हुआ, मैं जाकर कह आया हूँ। बहुत समझाया है, तब कहीं उन लोगों ने चूल्हा जलाया। यह क्या बात है बेटी? तेरी पवित्रता है, तेरा प्रेम है। तेरा धर्म है।" चाचाजी यही सब कहते थे। मैं तो वैसी ही पड़ी रही, बड़ा आनन्द आता था, बड़ी शान्ति मिलती थी। इच्छा थी, थोड़ी देर वैसी ही पड़ी रहूं और उनकी बातें सुनती रहूं। चाचीजी ने कहा—उठ बहू, मैं उठ आयी। चाचीजी के पैरों पर पड़ गयी। चाचाजी चले गये। चाचीजी ने मुझे गोद में उठा लिया। मैं बेहोश हो गयी। इतना आनन्द कोई कैसे सह

सकता है। मेरे जैसी तिरस्कृत, लाञ्छित स्त्री का इतना आदर! इतने लोग मेरे दुःख से दुःखी होनेवाले हैं। मेरे साथ रोनेवालों की इतनी संख्या है। किसी भूखे को—दाने दाने के लिए बिलखनेवाले को, यदि थाल के थाल मिल जांय तो, क्या उसके आनन्द का ठिकाना रहेगा? जिस समय मुझे एक आदमी की सहानुभूति सहारा देती, उस समय इतने आदमियों का प्रेम—अकारण प्रेम—क्या मुझे आनन्द विह्वल न कर देता? वही हुआ। मैं बेहोश हो गयी। वैसी ही पड़ी रही। कितनी देर, मालूम नहीं। मेरे गाल पर आँसू के कई बूंद गिरे, आँखें खुल गयीं। पर उठी नहीं। फिर मैं आँखें बन्द करने लगी। किशोरी ने कहा— भाभी उठो, चलो भोजन करें।

"चरणामृत मँगवा दो।"

"अच्छा मन्दिर में आदमी भेजती हूं।"

मैंने कहा—"मेरे विष्णु भगवान् का चरणामृत मुझे चाहिए, जिनका मैंने अभी ध्यान में दर्शन किया है। जिस लक्ष्मी के गोद में मैं लेटी हूं, उनके विष्णु का चरणामृत मुझे चाहिए।"

किशोरी अपनी माँ का मुंह देखने लगी। उन्हों ने कहा—'जा ले आ। एक कटोरे में गङ्गाजल ले ले।"

मैं वैसी ही, लेटी रही। चाचीजी शायद कुछ डर गयी थीं, उन्होंने वकील साहब की स्त्री से इशारे से कुछ बतलाया भी था। उन्होंने पूछा—"कैसी तबीयत है बेटी ?"

मैंने कहा—"अच्छी हूँ, बड़े सुख में हूं, बोलिए मत।"

मैं नहीं जानती, मेरे इस उत्तर से उन लोगों का सन्देह घटा या बढ़ा। किशोरी की मा ने मुझे अपनी गोद में खींच लिया। वहाँ भी वही आनन्द, वही शान्ति।

थोड़ी देर बाद किशोरी आगयी। साथ में जगन्नाथ बाबू भी आगये। उन्होंने कहा "चरणामृत लायी हूं।"

मैं उठ बैठी। बड़े आदर से कटोरा ले लिया। चाचीजी के भी चरण धोये और मैं पीगयी। उस समय मेरे मुँह से निकल गया—"मैं कलङ्किनी नहीं हूं। दुनिया से पूछ देखो, क्या कहती है? कलङ्कियों का साथ विष्णु भगवान् नहीं देते"। मेरी बातों से वे दोनों डर गयीं। उन लोगों ने समझा होगा कि मुझे उन्माद तो नहीं होगया। किशोरी की और मेरी मा ने कहा—बेटी, तुझे कलङ्किनी कौन कहता है? तुम चिन्ता छोड़ दो।

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। जगन्नाथ बाबू अब तक खड़े थे। वे मेरे पास आना चाहते थे। पर बिना बुलाये वे थोड़े ही आते। पहले भी तो नहीं आते थे। मैंने समझाया

कि आज वे आवेंगे। पर वे न आये। जहाँ आकर वे खड़े हुए थे, वहीं खड़े रहे। मैंने कहा—आइए बाबू, बैठिए।

वे चले आये, बिलकुल मेरे पास। उनके लिए जगह कहाँ थी?

मैंने कहा—"भोजन किया?"

उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। मेरी गोद में लुढ़क पड़े, रोने लगे। मैंने चुप कराया, उन्होंने कहा—औरों ने खाया, बाबूजी और अम्मा ने नहीं खाया है। बाबूजी तो बोलते ही नहीं। मैंने बात पलट दी। मैं उनके सम्बन्ध की कोई बात सुनना नहीं चाहती थी। मैंने कहा—चलो मेरे साथ खाओ।

बड़े उत्साह से उन्होंने कहा—"चलो।"

हम दोनों ने साथ ही भोजन किया।

बड़ी देर तक जगनाथ बाबू बैठे रहे। चलने के समय उन्होंने कहा—"तुम अब कहाँ जाओगी, उस घर में तो अब न जाओगी न?"

मैंने कुछ न कहा, उनसे यही कहा—अच्छा बाबू, अब नींद आती होगी, जाओ सोओ, वे चले गये।

रात के बारह बज रहे थे। सब लोगों ने भोजन कर लिया था। मेरे कमरे में, मेरे और किशोरी के लिए बिछौने बिछा दिये गये थे, पर बिछौने पर कोई नहीं गयी। मैं नीचे

हो फर्श पर लेट गयी। किशोरी ने किवाड़ बन्द कर लिए। लेम्प पास ले आयी और बोली—तुम्हारी दो चिट्ठियाँ आई हैं, मैंने चिट्ठियों को देखा, एक आप की थी और दूसरी मामाजी की। दोनों चिट्ठियाँ पढ़ लीं। बड़ी शान्ति मिली देवता! जी धड़क रहा था आप की ओर से। यहाँके समाज ने उसी समय सीता की शुद्धता स्वीकार करली, खटका था रामचन्द्र के मन की बात न जानने का। पर इस चिट्ठी ने विश्वास दिला दिया कि वहाँ स्थान रहेगा। यद्यपि इस नयी घटना का हाल राम को मालूम नहीं है, पर मुझे विश्वास हो गया कि इसका भी कोई प्रभाव न पड़ेगा। बड़ी शान्ति मिली, सब दुःख जाता रहा। धन्य हो भगवान्, बहुत ही शीघ्र दुःखनी का उद्धार तुमने कर दिया।

मैं सो गयी, नींद नहीं थी, सहसा इस रात को आपका स्मरण हुआ, हृदय को बड़ा अभाव मालूम हुआ। यदि इस समय मैं आपके पास होती, यदि मैं इस समय आनन्दमूर्ति का दर्शन कर पाती, तो कितना आनन्द मुझे होता। चारों ओर भयावना अन्धकार था। रात को झिल्लियों की झंकार ने अधिक भयावनी बना दिया था। आज दिन में अधिक से अधिक दुःख भोगा, मेरा संसार ही बदल गया था रातकी दूसरा दृश्य सामने आया। यह दृश्य अधिक मनोरम और अधिक उपयोगी होता, यदि आप होते। अच्छा, अब मेरा यहां रहना तो हो नहीं

सकता, पिता माता के यहाँ ऐसी दशा में जाना मुझे पसन्द नहीं। मैं आपकी ही शरण में आती हूँ, कल सबेरे चाचाजी से यही कहवा दूँगी। जब वे भेजेंगे, जैसे भेजेंगे, मैं आपकी सेवा में चली आऊँगी।

मामाजी ने अपने पत्र में आशीर्वाद लिखा है और लिखा है—"सावधान, ग़लती न करना। कोई कसौटी पर सोने को चढ़ाना चाहे चढ़ाले, परखना चाहे परखले। यही तो उसका कार्य-क्रम है। यही तो उसके भविष्य का मार्ग है। उसी पर चलने के लिए तयार हो जाओ" क्या अर्थ है, आप कुछ समझते हैं?

आपकी व्यथिता

......भा।
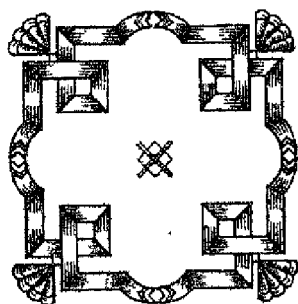
(१५)

नाथ,

उस घटना के दो वर्ष के बाद आज आपको पत्र लिखने बैठी हूँ। बीच में पत्र लिखने की ज़रूरत भी न थी। मैं तो आपके पास थी। इस बीच में अनेक परिवर्तन हुए। आज तो उस अप्रिय-काण्ड की स्मृति ही बाक़ी है। मैं आज माता हूँ। भगवान् की कृपा से सुन्दर बालक मेरे गोद का भूषण है। मेरा संसार पूर्ण हुआ है। पति-पुत्रवती नारी बड़ी ही सौभाग्यवती समझी जाती है। बात बिल्कुल सच है। यही बालक तो आपके लिए मेरा और मेरे लिए आपका चिह्न है।

हम लोगों के ये दो वर्ष तो बड़े ही सुखकर बीते। ये सुख ही कुछ दूसरे थे। मैं आपके पास थी। मुझे तो किसी विषय की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं था। मैं तृप्त थी। मेरी दशा उस भक्त की सी थी, जिसका मन भगवान् में लीन हो जाता है। उसके सामने दूसरा कोई विषय ही नहीं रहता, जिस पर वह सोचे। उसका ध्यान रहता है भगवान्

में। उसका मन, उसकी इन्द्रियाँ भगवान् में लग जाती हैं। मेरी भी वही दशा थी। मेरे सामने दूसरी कोई बात ही न थी। न कोई समस्या थी, न कोई दूसरा कार्य। नाथ, क्या इसे ही स्वर्ग-सुख कहते हैं? वह आपका दिनरात का दर्शन, आपकी बातें सुनना और आपके साथ रहना, समय बीत जाता था इन्हीं कामों में। क्या ये काम थे! काम करने के लिए तो तयारी करनी पड़ती है। पर मुझे तो कोई तयारी करनी नहीं पड़ती थी। ये सब काम आप ही आप हो जाते थे। मुझे तो मालूम ही नहीं हुआ कि ये दिन इतनी शीघ्रता से कैसे बीत गये। मैं तो उन सब को भूल गयी, अपनी उन ग़रीबिन बहनों को भी भूल गयी, जिनके लिए मैंने गृह-कलह बढ़ाया था। उनका स्मरण भी नहीं होता था। मुझे इस बीच में भाभी की कितनी गालियाँ खानी पड़ीं, शीघ्र शीघ्र पत्र लिखने के लिए उनके कितने ताने सुनने पड़े। क्या कहूँ, ध्यान ही नहीं जाता था दूसरी बातों की ओर। मैं कह नहीं सकती, कहाँ थी, किस अवस्था में थी?

आज शिवपुर में हूँ। दो महीने से यहाँ आयी हूँ। चाचीजी और मैं कलकत्ता से साथ ही आयीं। स्टेशन पर जब उतरीं तब मालूम हुआ कि भाभीजी यहीं आयी हैं। उनका सिपाही स्टेशन पर ही हम लोगों को मिला और उसने कहा—"मालकिन का हुक्म है कि मेरे यहाँ उन लोगों

को ले आओ"। मेरी समझ में कोई बात नहीं आयी। भाभी यहाँ आयी कैसे। हम लोगों से लखनऊ जाने की बात उन्होंने कही थी। फिर यहाँ वे कैसे आयीं और यहाँ ठहरी कहाँ है। मैं कुछ समझ न सकी—मालूम होता है कि घटनाओं का स्थान से कुछ संबन्ध होता है। यहां स्टेशन पर उतरते ही उस अप्रिय-काण्ड का स्मरण हो आया। कलेजा धक से होगया, मैं सोचने लगी—क्या फिर मुझे उसी घर में जाना पड़ेगा, क्या फिर उन्हीं लोगों के साथ रहना पड़ेगा, यह सोचकर मैं अधीर होगयी। पर जब भाभी के सिपाही को देखा तब आनन्द हुआ।

आपको मालूम न होगा कि भाभी ने यहां क्या तमाशा बना रखा है। उनका एक मकान बना है। मकान क्या है सुन्दर पर्ण कुटी है। कच्ची चारदीवारी चारों ओर है। बीच बीच में अलग अलग कई झोंपड़े बने हैं। उनमें रहने के सब साधन हैं। रसोई घर अलग है। एक बड़ा सा चौपाल है। वह क्यों बनाया गया है जब मैंने भाभीजी से पूछा तो उन्हों ने कहा—"यह दरबार हाल है।"

मैं उतरी, चाचीजी भी उतरीं, भाभी ने चाचीजी को प्रणाम किया और मेरी गोद से बच्चा ले लिया। कहने लगीं मैंने जनमाया और यह ले भागी। मैंने तो इसे धाय मुकर्रर किया था, यह तो मालकिन बन बैठी। मुझे तो हँसी आगई।

जो आजतक विलासिता में पलीं, वे आज इतनी सादगी क्यों पसन्द करने लगीं, कुछ समझ में नहीं आया। कितने अच्छे उन्होंने मकान बनवाये हैं, सोने, उठने, बैठने आदि के स्थान भी बड़े ही उत्तम हैं।

सन्ध्या को भाभी ने हमसे कहा—"बीबी, अब यहां मुफ़्त खाना न मिलेगा। बहुत मौज उड़ा ली कलकत्ता में। यहां अपने हाथ से बर्तन साफ़ करने होंगे। इस आश्रम में झाड़ू देनी होगी। रसोई बनानी होगी। दोपहर को प्रति दिन लड़कियों को पढ़ाना होगा।"

मैंने कहा—"अच्छा, तयार हूं।"

वे बोलीं—"तयार नहीं, करना ही होगा। मैं ग्राम-सङ्गठन करने आयी हूं। इसीलिए तेरे भाई को छोड़कर तेरे पास आयी हूं। क्या भाई की चीज़ों में बहिन का हिस्सा नहीं होता?"

मैंने कुछ नहीं कहा; फिर वे बोलीं—"एक काम आज ही करदे। अपने मर्द को आज ही एक ख़त लिख दे कि तुम लोग इतने दिनों से ग्रामसङ्गठन का राग अलाप रहे हो, पर अबतक किया भी कुछ! ग्रामों में क्या करना है, इसकी भी कुछ ख़बर है। अब श्रीमती भुवनमोहनीदेवी आयी हैं। वे ग्रामसङ्गठन करना चाहती हैं। दो महीने के बाद आकर

देखना। इस गांव की काया ही पलट दूंगी। यहां की स्त्रियां मर्दों से जूतियां सीधी करवायेंगी।"

मैंने कहा—"अच्छा ग्राम-सङ्गठन है।"

उन्होंने कहा—"अरे, ग्रामसङ्गठन होता क्या है। तू तो लिख दे।"

मैंने कहा—"न लिखूँगी।"

उन्होंने कहा— "लिखना पड़ेगा।"

मैंने कहा—"हर्गिज़ नहीं; देखूं कौन लिखवाती है।"

उन्होंने कहा—"लिखवावेगीं श्रीमती भुवनमोहिनी देवी, और लिखेगीं श्रीमती शशिप्रभा उर्फ़ मेरे बच्चे की धाय।"

मुझे हँसी आगयी। मैंने कहा—"लिखवा लेना।" चाचीजी ने समझा होगा कि ये लड़ रही हैं। इसीसे शायद वे वहाँ आयीं। भाभी ने कहा—"चाचीजी, यह लड़की ज़रा शोख़ हो गयी है। इसे दुरुस्त करना है। मेरी मदद कीजिएगा।" वे हँसने लगीं।

किशोरी भी आज कल आयी है। प्रातःकाल भी आयी थी, इस समय भी आयी। उसको देखते ही भाभी ने कहा—"तुझेही तो मैं ढूँढ़ती थी। एक नौकरानी चाहिए। मजूरी में एक ख़सम मिलेगा; क्या तू राज़ी है।" वह हँसने लगी, मुझे भी हँसी आयी। भाभी भी हँसने लगीं।

भाभी का यही कार्यक्रम है। वह कैसी स्त्री है, मैं तो समझ ही नहीं सकती। सदा प्रसन्न रहती है; हँसती और हँसाती रहती है। दुःख का नाम इसे मालूम ही नहीं। चिन्ता को भी अपने पास फटकने नहीं देती। बुद्धिमती इतनी है कि कोई भी कठिनाई हो, झट हल कर लेती है। दिन रात परिश्रम करती हैं और थकतीं नहीं।

भाभी का जो कार्यक्रम है, उसे देखते मालूम होता है कि वे सचमुच कुछ कर दिखावेंगी। उनकी एक पाठशाला है। दो घंटे पढ़ाई होती है। एक घंटे बातचीत। बहुतसा सामान उन्होंने मँगा रखा है। बहुत सी पुस्तकें हैं, बहुत से चित्र हैं। वे इस ढंग से वर्णन करती हैं कि लड़कियाँ झट सब बातें समझ लेती हैं। उनके आश्रम में रहने से भी बड़ा आनन्द आता है। आपकी इच्छाओं की पूर्ति वे कर रही हैं। वे शीघ्र ही आपको बुलावेंगी और अपनी........सीधी करवावेंगी। वे ऐसा ही कहती हैं।

एक दिन हम सबको लेकर वे अम्माजी के पास गयी थीं। प्रणाम करके हम लोग चली आयीं। अम्माजी ने कहा था—"क्या मेरे अपराध अब भी तू माफ़ न करेगी?" मैं क्या कहती। चुप रही। जगन्नाथ की बहू को भी देखा। बड़ी

सुन्दर है। घमंडिन मालूम होती है। मैं तो नहीं समझती कि इससे जगन्नाथ बाबू की पटेगी। वकील साहब के घर भी हमलोग गयी थीं। भाभी ने वहाँ भी व्याख्यान दिया। वकिलानी मां बहुत हँसीं। उन्होंने कहा—"किशोरी को अपने आश्रम में लेजा।"

किशोरी ने कहा—"मैं इस मुंहफटके साथ न रहूँगी। यह तो मुझे नौकर रखती है, और मजूरी देती है एक खसम।" इस पर वहाँ के सब लोग हँसने लगी।

नाथ, मुझे आश्चर्य होता है, जब देखती हूँ कि इस गाँव के लोगों की कैसी धारणा थी और अब वह कैसी हो गयी। इतनी शीघ्रता से ऐसा परिवर्तन होगा, इसकी तो मैंने कल्पना भी न की थी।

पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ गृहस्थी का उत्तम प्रबन्ध करने लगी हैं। पुरुष प्रसन्न हैं। वे हम लोगों की सहायता करने को तयार हैं। वे कहते हैं कि इन लोगों ने तो हमारे घरों से दुःख को ही निकाल भगाया।

मैं जानती हूँ—यह कठोर कर्तव्य है, पर भाभी के विनोद ने इसे सरल और मनोरंजक बना दिया है। बच्चे ने सबकी कमी पूरी कर दी है। यहाँ तो वह स्वस्थ है। आश्रम का

समस्त ख़र्च भाभी देती हैं। मैंने कहा—"कुछ रुपये रखे हैं लेलो। कहने लगीं—"वाह रे रुपयेवाली। कहाँ पाया है, किस ख़सम ने दिया है।

भाभी का व्यवहार बड़ा ही प्रभावशाली है। जिससे जो कहती हैं उसे वह करना ही पड़ता है। गाँव की सभी स्त्रियाँ अक्सर आया करती हैं। पहले बखेड़ा था पर्दे का। भाभी ने कहा—"मर्दों से कह दो कि गाँव छोड़कर चले जाँय। उन्हीं से तो हमें पर्दा करना होता है। यदि वे ऐसा न करें तो आँखों पर पट्टी बाँधा करें। भड़ुए, दिल को साफ़ करते नहीं, पर्दा लगाने आये हैं।

चाचाजी भी यहीं हैं। एक बार आपको आजाना चाहिए।

आपकी

......भा,

(१६)

मेरे आचार्यदेव

आपका पत्र मिला। बड़ा आनन्द हुआ। आपका यह कहना बिलकुल ठीक है कि ग्रामसङ्गठन के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि गांववालों को यह बतला दिया जाय, उन्हें इस बात का विश्वास करा दिया जाय कि तुम सब लोग एक दूसरे की सहायता किया करो। तुम अगर किसी की सहायता करोगे, तो दूसरा भी तुम्हारी सहायता करेगा। इस "पारस्परिक सहयोग" के अभाव से ही गांववाले इतने दुर्बल हैं। जो ही आता है, इन्हें दबा लेता है, चपतियां दे जाता है। दूसरा देखता रहता है। एक के घर में आग लगी, और लोगों ने उसकी सहायता न की, आग बुझाने में उसका साथ न दिया। वह अकेला आग बुझा नहीं सकता, यह जानी हुई बात है। इसका फल यह होगा कि आग बढ़ कर समूचे गांव को जला देगी। पर यदि समूचा गांव एक आदमी के घर लगी आग को बुझाने में

जुट जाय, तो उसका बुझजाना असंभव नहीं है। इससे उस की भी बहुत रक्षा होजायगी और समूचा गांव भी बच जायगा। यही हाल रोग का भी होता है। एक आदमी के यहां रोग हुआ, गांववालों ने भी चाहा कि उसकी मदद करें। जिसके पास जो हो, वह उसे दे। इससे उस गांव के एक एक आदमी के प्राणों की रक्षा होगी। रोग गाँव में फैलने न पावेगा। वह व्यक्ति या परिवार अपने पड़ोसियों की सहायता पाकर भला चंगा होजायगा। अपने सहायकों को वह आशीर्वाद देगा। भगवान् न करें, पर यदि कोई ऐसा ही अवसर पड़ोसियों पर आया, तो वह भी प्रत्युपकार करने से बाज़ न आवेगा। उपकार के बदले उपकार अवश्य करेगा। इसी प्रकार ज़र्मीदार, चपरासी या और कोई हुक्काम, किसी गाँववाले पर ज़बरदस्ती करना चाहे, तो गाँववालों को चाहिए कि वे अपने पड़ोसी की मदद करें, वे उसकी रक्षा करें। ऐसा करने से उन्हें एक सहायक मिल जायगा। उन पर जब कोई ज़ोरज़ुलम करने लगेगा, तब वह भी उनका साथ देगा। इस प्रकार धीरे धीरे समूचा गाँव आपस में एक दूसरे का सहायक होजायगा। एक आदमी पर विपत्ति पड़ी, समूचा गाँव उसकी सहायता करने के लिए तयार हो जायगा। वह कितनी बड़ी विपत्ति होगी, जो समूचे गाँव के हटाये न हटेगी? एक गाँव की सम्मिलित शक्ति तो बड़े-

बड़े पहाड़ों को भी चूर कर सकती है, फिर कोई विपत्ति कितनी भी बड़ी हो, उसकी क्या बिसात ?

गाँवों के कष्ट का दूसरा कारण आपने बतलाया है स्त्रियों की मूर्खता, मालिक, मैं इस सत्य से इन्कार नहीं करती, पर कुछ संशोधन करना चाहती हूँ। मेरी समझ से स्त्री और पुरुष दोनों की "मूर्खता" का कारण है। स्त्रियाँ गृह-प्रबन्ध में चतुर नहीं। पर उनका यह स्वभाव नहीं है। वे चतुर बनायी जा सकती हैं। दुःख है, पुरुषों का ध्यान इधर नहीं है। वे स्त्रियों को केवल विलास की ही चीज़ समझते हैं। वे उन्हें 'परी" बनाने ही के प्रयत्न में लगे रहते हैं। जिसका फल यह होता है कि स्त्रियों का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, पुरुषगण अकाल ही में बूढ़े हो जाते हैं और बेटे बेटियों से घर भर जाता है। अब इनका पालन-पोषण कौन करे ? उनके भोजन, वस्त्र, शिक्षा, ब्याह आदि की चिन्ता ऊपर से। पुरुषों को स्वयं संयत रहना चाहिए। अपनी आमदनी को समझ कर काम करना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि बारीक कपड़े, साबुन, सुगन्धित तेल आदि से सुन्दरता नहीं बढ़ती। वह बढ़ती है ब्रह्मचर्य से। संयम से रहनेवाला जितना सुन्दर होता है, उतना गहने और कपड़ों से अपने को सजानेवाला नहीं। क्या पुरुष इन बातों की ओर ध्यान देते हैं। जहाँ किसी स्त्री को तीन चार वर्ष आये हुए और उसके

कोई सन्तान न हुई बस, उससे तकाज़े शुरू हो जाते हैं। "बहू, कोई बच्चा दो"। मानों उसने बच्चा रख छोड़ा है, जो निकालकर इन्हें देदे? अधिक से अधिक पांच साल तक परखा जाता है। इस बीच में भी यदि लड़का न हुआ तो झट दूसरी शादी का इन्तज़ाम होने लगता है। हमारे यहाँ स्त्री-पुरुषों की इस मनोवृत्ति से कितनी हानि हुई है, यह विचारने की बात है। परिस्थिति पर विचार करने से तो स्त्रियाँ बहुत कुछ निर्दोष हो जाती हैं। परिवार में जो प्रथा चली आयी है, उसीके अनुसार उन लोगों को चलना होगा। वह भला है, तो भला ही है, यदि बुरा भी हो, तो उसे ही भला समझना होगा। उसमें उलट फेर करने का अधिकार तो उन्हें होता नहीं, उसके सम्बन्ध में राय तो वे प्रकाशित कर ही नहीं सकतीं, यहाँ तक कि उन्हें उसके विपरीत समझने का भी अधिकार नहीं है। दूसरी बात यह है कि उन्हें तो अपने पति का मन रखना है, वे जैसे प्रसन्न रहें, वैसा करना है। उनका तो कोई मन नहीं है, मन है पति का, स्त्री उसको प्रसन्न करने का साधन है। तीसरी बात यह है कि वह तो घर के बाहर पैर नहीं रख सकती। ऐसी दशा में वे क्या कर सकती हैं। मेरी समझ से तो जो वे करती हैं, वही बहुत है। नियमतः तो उनसे इतनी भी आशा नहीं रखनी चाहिए।

तीसरा कारण आपने बतलाया है—"अनुचित स्वार्थ, स्वयं बड़ा बने रहने के लिए दूसरों को दबा रखने की नीचता।" बिल्कुल सच है देवता, इसी मनोवृत्ति ने ही गांवों को तबाह कर डाला है। दूसरों को दबा कर रखने-वाले नीच, स्वयं तो उखड़ गये, पर दूसरों को उखाड़ कर।

आपका पत्र मैंने भाभी को भी दिखाया था। उन्होंने जो कहा, उसे मैं लिखना नहीं चाहती थी, पर उससे आपका कुछ मनोरंजन नहीं होगा। यही समझ कर लिखती हूँ। मुझे तो क्रोध हो आया था, पर उनके सामने किसीका क्रोध ठहर नहीं सकता। आपका पत्र पढ़कर उन्होंने कहा—"देखा भ...की चालाकी। मुझे सिखाने चला है।"

मैंने कहा—"आप ये सब बातें उन्हींके सामने कहतीं तो अच्छा होता। आपको समझना चाहिए कि उनकी शान में ऐसी बात मैं सुन नहीं सकती।"

वे बोलीं—"सुनना पड़ेगा, भुवनमोहिनी देवी जो सुना देंगी, वह सुनना पड़ेगा। कैसी शान और किस की? आने दे उस भ...को तो तेरी और उसकी नकेल पकड़ कर घुमाती हूँ कि नहीं।"

मैंने कुछ कहा नहीं। वे झट चली आयीं। कहने लगीं, "मेरी बीबी, मेरा यह हक़ तो न छीनो। बेमौत मर जाऊँगी।" उन्होंने मेरा मुंह चूम लिया, मुझे हँसी आगई।

भाभी का उद्योग भी इसी सूत्र पर हो रहा है। उनके काम को देख कर बड़ा आनन्द आता है। जो स्त्रियां उनके यहां आती हैं, उन्हें वे अपना शिष्य बना लेती हैं। गाँव भर की स्त्रियाँ उनके यहाँ आती हैं, शायद ही कोई घर बचा हो। सब घरों की खबरें उन्हें मिला करती हैं। किसके घर में खाना नहीं है, किसके यहाँ झगड़ा हुआ है, कौन बीमार है आदि बातों का पता उन्हें नित्य लगा करता है। गाँव भर से साग, तरकारी, दूध, दही, उनके यहाँ आता है। वे सब रख लेती हैं। उन्हें मालूम रहता है कि किसको किस चीज़ की ज़रूरत है, वह चीज़ उन्हींके यहाँ पहुँच जाती है। रोगी को दवा दी जाती है। जिसके पास अन्न नहीं रहता, उसे अन्न दिया जाता है और जवाब तलब किया जाता है कि क्यों नहीं तुमने अपने लिए अन्न रखा?

एक दिन उन्होंने गाँव भर की स्त्रियों से कहवाया कि अबकी सोमवार को सबलोग एक एक सेर चावल ले आवें। देखा गया उस दिन ग्यारह बजे के पहले सात मन चावल इकट्ठे हो गये। भाभी ने उन सब स्त्रियों से कहा—"एक सेर चावल तुम्हारे घर से निकल जाने से तुम्हें उपास तो न होगा?" वे स्त्रियाँ हँसने लगीं। वे बोलीं—"देखो तुम्हारा एक सेर यहाँ सात मन है। अगर साल में तुम लोग दस दस सेर दो तो सत्तर मन होते हैं। इससे तो

बहुत से ग़रीबों का पेट भर सकता है। कितने रोगियों को पथ्य दिया जा सकता है।" उन्होंने फिर कहा—"तुम लोग चाहो तो अपना अपना चावल ले जा सकती हो।" कोई भी ले जाने के लिए तयार न हुई। तब उन्होंने मुझसे कहा—"बीबी, तुम कितना चावल देती हो?"

मैंने कहा—"रानी साहब का जो हुक्म हो।" उन्हीं की आज्ञा से उन्हें मैंने रानी साहब कहा। उनकी आज्ञा है कि मुझे सबलोग रानी साहब कहा करें।

उन्होंने कहा—"७—मन तुम दो।" मैंने पैंतीस रुपये निकाल कर रख दिये।

चाचीजी से पाँच मन और किशोरी से पाँच मन चावल उन्होंने माँगे। चाचीजी ने पचीस रुपये जमा कर दिये, किशोरी ने घर से चावल भेज देने को कहा। तब आप बोलीं—"सात मन चावल मैं देती हूँ।" सब मिला कर यह इकतीस मन चावल हुए। यह भाण्डार किशोरी देवी के ज़िम्मे किया जाता है। इन रुपयों से वे चावल मँगा लें। जिसे जरूरत हो, उसे इसमें से दें। आज से तीसरे महीने इसी तरह और चावल वे इकट्ठा कर लें। जिसे ज़रूरत हो वह ले जा सकता है। पर उसे बतलाना होगा कि उसने अपने लिए अन्न क्यों नहीं रखा?

भाभी के इस भाण्डार से लोगों का बड़ा उपकार होगा, और इसी के ढंग पर वे और भी कई तरह के आवश्यक भाण्डारों की स्थापना करनेवाली हैं।

एक दिन उन्होंने कहा—"आज ज़मींदार के घर जाऊंगी और नरेन्द्र की दुलहिन को आश्रम में लाऊंगी। सुना है उस की तबीयत अच्छी नहीं है। दवा से भी लाभ नहीं हुआ।" मैंने कहा—"वह नहीं आवेगी। फिर वह ज़मींदार की बहू है, उसके यहां कमी क्या है, जो आश्रम में आवे"। पर वे तयार हो गयीं। कहने लगीं—"तू समझती नहीं, मैं तो जाऊँगीही, जैसे होगा, उसको यहां लाऊंगी। बड़ी ज़मींदारिन बनी हैं। क्या वे मुझसे भी बड़ी हैं? कितनी आमदनी है उनकी? मेरा दुलहा तो दो हज़ार महीना पाता है और उसका दुलहा कितना पाता है? मैं आश्रम में रहती हूं, वह क्यों न रहेगी?"

मैंने कहा—"भाभी मुझे भय होता है, कहीं तुम्हारा वहां अपमान न हो जाय। वे लोग दूसरी तरह के हैं।" उन्होंने कहा—"अपमान करनेवाले की ऐसी तैसी, मेरा जो अपमान करेगा, उसे बतला दूँगी।" फिर बोलीं—ऐसों ही को तो ठीक करना है, मेरी मुन्नी, अपमान न होगा, डरो मत, मुझे जाने दो। देख तो आऊं।"

उन्होंने एक स्त्री से ज़मींदार के यहाँ कहलवाया—"मैं तुम्हारे यहां आती हूं। सुना है, नरेन की दुलहिन की

तबीयत अच्छी नहीं है। बहुत दिनों से बीमार है। अच्छी नहीं हुई। मैं उसे आश्रम में लाऊंगी।"

वह स्त्री ज़मीन्दार साहब के यहाँ से लौट आयी। एक गाड़ी लेकर आयी। उसने कहा—"ज़मींदार साहब की स्त्री ने कहा है, आवें, गाड़ी भेजती हूँ। नरेन की दुलहिन को देख जाँय। हमारे घर की कोई आश्रम में कैसे जा सकती है। हाँ, यहाँ ही दवा दारू का प्रबन्ध कर देंगी, तो हम लोग करेंगी।"

भाभी ने गाड़ी लौटा दी। आप पैदल गयीं। मदारी की दुलहिन तथा दो स्त्रियाँ और उनके साथ गयीं। एक घण्टे के बाद नरेन की दुलहिन को साथ लेकर चली आयी और सो भी अपने साथ पैदल ले आयी। किसी का कहना उन्होंने सुना ही नहीं। नरेन की माँ ने कहा—"रानी बहू, मालिक नाराज़ होंगे।"

भाभी ने कहा—मालिक को कौन पूछता है, मालकिन तो नाराज़ न होंगी। लड़की मरी जाती है और मालिक नाराज़ होते हैं। मैं न मानूँगी, मैं अपनी बहिन को ले जाऊँगी। अभी तक मैं देखती रही, क्यों न मालिक ने अच्छा कर दिया? आज नाराज़ होने आये हैं, क्यों, क्या इसलिए कि अब यह आश्रम में जाकर अच्छी हो जायगी? मैं तो इसे ले जाऊँगी, आप मालिक को समझा दीजिएगा। यदि न

आवें, तो उनसे कह दीजिएगा कि एक महीने तक नाराज़ रहें। फिर बहू घर आजायगी और वे खुश होजांयगे।"

मालकिन ने भाभी की बात मान ली। उन्होंने कहा—"अच्छा, जब तुम्हारी इच्छा है, तो ले जाओ। पर गाड़ी पर जाओ, भाभी ने कहा—"चाची, आश्रम में कोई गाड़ी पर नहीं जाता। इसीसे तो मैं पैदल आयी हूँ।"

भाभी नरेन की दुलहिन का हाथ पकड़ कर लिए चली आयीं, ज़मींदार ने भी यह ख़बर सुनीं। पर वे कुछ बोल न सके। शायद भाभी के बारे में उन्होंने सुना होगा, आज बीस दिन हो गये। वह भली चङ्गी है। कोई रोग नहीं है। चेहरे का पीलापन जाता रहा। चेहरा निखर आया है। इस की सास भी आयी थीं। वे अपनी बहू को देखकर बहुत ख़ुश हुईं। कहने लगी, "रानी बहू, मुझे भी अपने आश्रम में रख ले।" भाभी ने कहा—बहू को घर भेज दूँ, तब आप आवें। नरेन भी आया था, पर वह आश्रम में आने न पाया। परसों ज़मीन्दार साहब आये। उन्होंने पहले पुछवाया था। भाभी ने कहा—"आवें।"

भाभी ने उन्हें आश्रम दिखाया। वे बड़े प्रसन्न हुए। अपनी बहू भी उन्होंने देखी। यहाँ तो पर्दा नहीं है। भाभी ने कहा—"पिताजी, आप अगर बहू को देखा करते तो इसकी ऐसी दशा न होती। किसीने कह दिया, बीमार

है, इससे आप क्या समझेंगे ? वैद्य डाक्टर बुला दिया। पर इससे तो बहुत कम लाभ होता है। ज़मींदार साहब ने भाभी का अन्न भण्डार भी देखा। उस भण्डार से किस काम के लिए ख़र्च होता है यह जानकर वे ख़ुश हुए। बोले—२५—मन चावल मेरी बहू की ओर से भी जमा करा दो बेटी, कल आजायगा। फिर वे "बोले, वाह, तुमने तो हमारे गाँव की काया ही पलट दी। हम लोगों के ध्यान में तो यह बात ही न आयी थी।" फिर पूछा—"बहू को कब तक रखोगी ?" भाभी ने कहा—"तेरह दिन और।"

यही उनका कार्यक्रम है। उनका ध्यान गाँव की लड़कियों पर विशेष है। वे उन्हें ख़ूब परिश्रम से सिखाती, पढ़ाती हैं। वे कहती हैं कि ये अपनी ससुराल में जाकर मेरा काम करेंगी। इससे जल्दी काम होगा। ख़र्च भी न पड़ेगा। मुझे चन्दा कौन देगा। अपील मर्द छापा करें। हम लोग तो लक्ष्मी हैं। क्यों किसी से मांगें।

भाभी का एक और विनोद सुनिए। एक दिन एक बुढ़िया इसी रास्ते से जा रही थी। भूखी, प्यासी थी। आश्रम की एक स्त्री ने उसे देखा। आश्रम में उसे ले आयी। भाभी सामने खड़ी थीं। सिर का बोझ नीचे रखकर वह बैठ गयी। उसे भोजन दिया गया। खा, पी चुकने पर उसने पूछा—तुम लोग यहाँ कब से आयी हो ?

भाभी ने कहा—थोड़े ही दिन हुए।

बूढ़ी ने पूछा—एक ही घर के तुम लोग हो ?

भाभी ने कहा—"पहले तो नही थीं, पर अब मर्द बदल कर हम सब बहिन होगयी हैं।" मुझे बतलाकर उन्होंने कहा—इसका मर्द मुझे मिला है और मेरा मर्द इसे। किशोरी और नरेन की दुलहिन को बतलाकर उन्होंने कहा—इन दोनों ने भी आपस में मर्द बदल लिया है। हम सब चुप थीं। क्या मजाल जो कोई हसे ? पर बूढ़ी हँसने लगी, बोली—"ऐसा क्या होगा मालकिन" ?

इतने थोड़े रुपयों में ऐसा सुन्दर प्रबन्ध, यह भाभी हो की योग्यता है। गांव की स्त्रियों का ढंग ही बदल गया है। वे सब आपस में एक बहिन सी होगयी हैं। सभी एक दूसरे के दुःख से दुःखी रहने लगी हैं। ऐसी दशा में क्य दुःख अखरता है ?

भाभी कहती हैं कि एक वर्ष के बाद मैं जाऊँगी। इस आश्रम का काम मुझे करना होगा। मैं सीख तो गयी हूं। पर यह विनोद कहां मिलेगा।

आपकी अनुगामिनी

.........भा

(१७)

प्रियतम,

आपने मेरी चिट्ठियां प्रकाशित करने को सम्मति मांगी है। इसके लिए मेरी सम्मति की क्या दरकार है। जो उचित समझें, करें, मुझे इन्कार कब है।

पर मेरी समझ से उन चिट्ठियों में ऐसी कौनसी बात है, जिसके प्रकाशित होने से किसी को लाभ हो। क्या मेरी चिट्ठियां पढ़नेवाले कुछ लोग हैं? अजी, किसको फ़ुरसत है दुखिया की गाथा पढ़ने की। यदि हमारे युवक, हमारी युवतियां दुखियों की ओर आंख उठाना सीख जांय, तो फिर हमें कमी किस बात की रहे? हमारे पास क्या नहीं है?

नाथ, मेरी चिट्ठियां तो बाज़ारू नहीं हैं। घर की हैं। मैंने अपनी दशा लिखी है, अपने मन की बात लिखी है। बाज़ारू चीज़ तो रंगी-चुंगी होती हैं। मेरी चिट्ठियों का फीका रंग बाज़ार में कैसे पसन्द आवेगा? फिर भी आपकी इच्छा का पालन मुझे करना है। आपने मेरे पत्रों को प्रकाशित करना

सोचा है, तो अवश्य ही उसका कोई कारण होगा। मैं जानती हूँ, प्रेमवश होकर आप कोई काम नहीं करते। इसी विश्वास पर मैं भी आपके साथ सहमत होती हूँ। मैं अपनी चिट्ठियां प्रकाशित करने की आपको सम्मति देती हूँ।

सब चिट्ठियां न छापी जांय। उनमें से कुछ चुन लीजिए, जिनमें कोई काम की बात हो, उन्हें प्रकाशित करा दीजिए। हाँ, पुस्तक छपने के पहले भाभी से उसे दिखा लेना अच्छा होगा। उनके सम्बन्ध की भी कई चिट्ठियां हैं। पहले वे पढ़ लेंगी तो अच्छा होगा।

देवता, जो व्रत आपने लिया है, उसकी पूर्ति की योग्यता मैंने पा ली है। आपके चरणों में बैठकर मैंने वह शिक्षा पा ली है। भाभी के साथ रहकर आपकी शिक्षाओं का मैंने अभ्यास किया है। अब तो पक्की हो गयी हूं। अब मेरे सामने कोई कठिनाई नहीं है। मैं समर्थ हूं।

भैया एक दिन आये थे। पर आश्रम में आने न पाये, वकील साहब के घर जाने का हुक्म हुआ। रानी साहब वहीं गयीं और उनसे मिल आयीं। भाभी कहती हैं कि इस आश्रम में मर्द आ सकते हैं, पर वे मर्द नहीं आ सकते जिनकी स्त्री इस आश्रम में है। वे कहती हैं कि स्त्री का नाम सुनते ही इन भडुओं के मन में विकार पैदा हो जाता है। जबतक इनकी यह पशुता दूर न होगी, तबतक ये यहाँ आने न

पावेंगे। मालूम होता है, वे आपको भी न आने देंगी। उनके नियम भी अद्भुत हैं, पर निरर्थक नहीं।

इस अद्भुत स्त्री ने तो मुझे मोह लिया है। फूआजी बीमार थीं, भाभी को खबर लगी। बोलीं—जाओ, उन्हें ले आओ। मैं गयी, फूआजी से कहा—आश्रम में चलिए। वे मेरी ओर देखने लगीं। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—पूछ लूं। मैंने कुछ न कहा। अम्माजी आगयीं। उन्होंने कहा—बीमार पड़ने पर तुम्हारे भाग्योदय तो हुए। जाओ। मैं भी बीमार पड़ती और आश्रम में जाती। मैं फूआजी को लेकर चली आयी। वे अच्छी होरही हैं।

हम सब लोग प्रसन्न हैं। बच्चा खुश है। दिन भर आश्रम के लम्बे चौड़े आंगन में दौड़ता है। हृष्टपुष्ट है। हम सब प्रसन्न हैं।

पत्र प्रकाशित होने पर दो कापियाँ भेजिएगा।

आप की प्रिया

………मा